उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो ।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ मार्च—१९८६ अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा । निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
दश वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एव सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें ।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

राज प्रासाद में भीख माँगने जाकर जो लौकी, कुम्हड़े जैसी तुच्छ वस्तु की प्रार्थना करता है, वह कितना मूर्ख है ! उसी प्रकार, राजाधिराज ईश्वर के दरबार में खड़ा होकर जो ज्ञान, भक्ति आदि रत्नों को न माँग अष्टसिद्धि जैसी तुच्छ वस्तु की याचना करता है, वह कितना अबोध है ।

(२)

मन की किस प्रकार की अवस्था में भगवान् के दर्शन होते हैं ? जब मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, तब । मनरूपी समुद्र में जब तक वासनारूपी तरंगें उठती रहें तब तक ईश्वर का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और ईश्वरदर्शन सम्भव नहीं हो पाता ।

(३)

जो संसार में रहते हुए साधना करते हैं वे किले की ओर से युद्ध करने वाले सैनिकों की तरह होते हैं, और जो भगवान् के लिए संसार को त्यागकर चले जाते हैं वे खुले मैदान में लड़नेवाले सैनिकों की तरह होते हैं । किले के भीतर रहकर लड़ना खुले मैदान में लड़ने से काफी सरल और सुरक्षित है ।

(४)

गौओं के झुण्ड में अगर कोई दूसरा जानवर घुस पड़े तो गौएँ उसे सींग मारकर भगा देती हैं, पर अगर कोई गाय आ जाए तो सब मिलकर उसका शरीर चाटने लग जाती हैं । इसी भाँति, जब एक भक्त की दूसरे भक्त से भेंट होती है तो दोनों को ही आनन्द होता है और वे एक-दूसरे का संग छोड़ना नहीं चाहते; परन्तु कोई विजातीय भाव का मनुष्य आ जुटने पर भक्त उसके साथ मिलना नहीं चाहता ।

(५)

भगवान् को पाने के लिए ऐसा व्याकुल होना चाहिए जैसे डूबता हुआ आदमी साँस लेने के लिए होता है ।

श्रीरामकृष्ण स्तुति

—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
वृन्दावन।

हे रामकृष्ण भगवन्, भक्तों के प्राण-प्यारे।
हे सर्व धर्म प्रभुवर, जन-मन परम दुलारे ॥१॥

करबद्ध नाथ तुमको, करते प्रणाम हम सब।
सन्तान हम तुम्हारी, पितु मातु तुम हमारे ॥२॥

भव-भोग-काम-भंजन, सुख-शान्ति-प्रेम दाता।
हे ज्योतिपुंज योगी, दीनार्त के सहारे ॥३॥

नररूप धर के तुमने, गीतोक्त प्रण निभाया।
पावन हुई धरा यह, अघ-दोष सब निवारे ॥४॥

निज प्रेम-दृष्टि से फिर, हे देव हमें देखो।
जगदीश हो तुम्हीं तो, रक्षक सदा हमारे ॥५॥

भव-सिन्धु-ज्वार में सब, असहाय बह रहे हैं।
दीजे कृपा का सम्बल, लग जायें हम किनारे ॥६॥

हे परमहंस, ठाकुर, अवतार-श्रेष्ठ स्वामिन्।
भ्रम-रोग के निवारक, हे त्यागवीर न्यारे ॥७॥

करते हैं नाथ तुमसे, करबद्ध यह निवेदन।
अनुरागरत रहें हम चरणों में नित तुम्हारे ॥८॥

सम्पादकीय सम्बोधन

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

वे दिन बड़े विलक्षण थे। मनुष्य एक आत्म पीड़ा के दौर से गुजर रहा था। बड़ी आकुलता थी उसके भीतर। वह समझ नहीं पा रहा था इस रहस्य को कि सुख से, शान्ति से और आनन्द से कैसे जिया जा सकता है। वह निरापद-भाव से जीना चाहता था। वह आदि मानव था।

आदि मानव जंगलों में, पहाड़ों पर सागर और नदियों के किनारे निवास करता था। पेड़ों के घर्षण से आग पैदा होती और उसके कुनबे के कुनबे जल कर राख हो जाते। मूसलाधार वर्षा होती और भीषण वज्रपात होता। और वह क्षत-विक्षत हो जाता। प्रचंड आंधियाँ आतीं, झंझावात आते और उसका सब कुछ बना-बनाया नष्ट हो जाता। भयंकर घटाएँ। कौंधती बिजलियाँ। गरजते सागर। आदि मानव भयभीत था। कैसे वह निरापद जी सकेगा! उसने कल्पना की— उसे पीड़ा पहुँचानेवाले तत्व उससे अधिक शक्तिशाली हैं। वे देवता हैं। उन्हें प्रसन्न करना होगा। उन्हें बलि देकर, यज्ञाहुति देकर प्रसन्न किया जा सकता है। अग्नि, वरुण, महत् को संतुष्ट किया जा सकता है—यज्ञों के द्वारा।

मनुष्य ने यज्ञ किये। बलियाँ दीं। अपनी प्रियतम वस्तुओं को अर्पित किया उन देवताओं को। लेकिन वह संतुष्ट नहीं हुआ। नहीं, इन यज्ञों से, कर्मकाण्डों से शाश्वत सुख, चिरन्तन शान्ति, अखंड आनन्द नहीं पाये जा सके। उसने अपना संघर्ष जारी रखा।

एक दिन ऐसा आया जब उसने यह जान लिया कि यज्ञों से देवताओं को प्रसन्न तो किया जा सकता है किन्तु इससे मृत्यु से उबरा नहीं जा सकता। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। वह बाहर से भीतर की ओर लौटा। बाह्य प्रकृति से अन्तर प्रकृति की ओर मुड़ा और उसने आत्म-शोध किया। और उसने उस तत्व को पा लिया जिसे पा लेने के बाद मृत्यु का भय फिर शेष नहीं रहता। शेष रह जाता है केवल सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानन्द। सच्चिदानन्द अर्थात् अक्षण, अखंड, अशेष आनन्द का आलोक-लोक। वह उत्फुल्ल हो उठा। आह्लाद और विस्मय से भर कर वह पुकार उठा—

> श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
> आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
> आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
> तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् 'हे विश्व के निवासियो! हे अमृत के पुत्रो! सुनो। हे दिव्य लोकों में रहनेवालो, तुम सब भी सुनो। ......मैंने सूर्य की भाँति ज्योतिर्मय उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो समस्त अज्ञानरूपी अंधकार से परे है। केवल उसी को जानकर मृत्यु की भीषणता को पार किया जा सकता है। उसके अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है।

सूर्य की भाँति ज्योतिर्मय महान् पुरुष! जो समस्त

अज्ञानरूपी अंधकार से परे है। जिसे जानकर मृत्यु की भयावह पीड़ा के सागर से पार हुआ जा सकता है। जिसके जानने के सिवा आनन्द में स्थित होने का, अशोक-लोक में प्रतिष्ठित होने का दूसरा कोई मार्ग नहीं।

हमारी स्थिति आज उस आदि मानव से कुछ बहुत भिन्न नहीं है। हम अपने निरन्तर बुद्धि-यज्ञ के द्वारा प्रकृति को अपने अधीन करते जा रहे हैं। किन्तु हम जिस मात्रा में प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन कर अपने सुख के साधन जुटाते जाते हैं उसी अनुपात में एक संत्रास, एक अज्ञात भय एक अपरिमेय दुःख से ग्रस्त भी होते जा रहे हैं।

यज्ञ बुरा नहीं है। बाह्य प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करना बुरा नहीं है। किन्तु, यज्ञ हमें शाश्वत शान्ति नहीं दे सकते। बाह्य प्रकृति पर प्राप्त विजय हमें अक्षय आनन्द नहीं दे सकती।

बाह्य-प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन विज्ञान है। अन्तः-प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन अध्यात्म है।

विज्ञान को हमने देख-परख लिया है। अब हमें अध्यात्म में उतरना होगा। कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं।

प्रत्येक युग में कुछ लोगों नें अपनी गंभीर आध्यात्मिक साधना के द्वारा सूर्य की भाँति ज्योतिर्मय उस महान् पुरुष को देखा था। बुद्ध, ईसा, मोहम्मंद आदि ऐसे ही साधक थे। बाद में लोगों ने उन पुरुषों को भी सूर्य की भाँति ज्योतिर्मय महान् पुरुष के रूप में अंगीकार कर अपने-जीवन-पथ को सजाया-सँवारा।

इस युग में भी सूर्य की भाँति उस ज्योतिर्मय महान् पुरुष का आविर्भाव हुआ था - आज से ठीक केवल १५० वर्ष पूर्व। उस ज्योतिर्मय महान् पुरुष का नाम आप सब जानते हैं — भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस। उनके जीवन-काल में ही लोगों ने उन्हें ज्योतिर्मय महान् पुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया था।

श्रीरामकृष्ण को गात्र-दाह हो रहा है। सारे शरीर में भीषण दाह है। सारा शरीर जल रहा है। डाक्टर-वैद्यों की चिकित्सा विफल हो रही है। वे उस भीषण ज्वाला को सह नहीं पा रहे हैं। तभी एक दिन भैरवी ब्राह्मणी आती हैं। कहती हैं—'ऐसा होता है। अनेक साधकों को ऐसा हुआ है। मिट जायगी यह ज्वाला।' वे ठाकुर के शरीर में चन्दन का लेप करती है। गले में सुगन्धित पुष्पों की माला डालती हैं, कहती हैं—'मैं जानती हूँ कि तुम कौन हो। नित्यानन्द के शरीर में गौराङ्ग (चैतन्य महाप्रभु) का आविर्भाव हुआ है। तुम ही युग-युग में अवतार लेते हो।'

'तुम ऐसा मत कहो, ऐसी बात मत बोलो'—ठाकुर कुछ खिन्न होकर कहते हैं। लेकिन चन्दन के लेप और पुष्प-माल्य के धारण से गात्र-दाह समाप्त हो जाता है।

पंडित वैष्णव चरण को शुरू में सन्देह होता है। किन्तु बाद में उनका भी संदेह दूर हो जाता है। पंडितों की गोष्ठी होती है। शास्त्रों में अवतार के लक्षण देखे जाते हैं और प्रमाणित होता है कि श्रीरामकृष्ण अवतार हैं।

मथुरमोहन—रानी रासमणि के दामाद—परीक्षा लेना चाहते हैं। दक्षिणेश्वर में भवतारिणी के मन्दिर में एक पाये के पीछे खड़े हैं। श्रीरामकृष्ण माँ की आरती करते हैं—भाव-विभोर होकर। फिर घर के बरामदे में टहलने लगते हैं। शाम का धुँधलका है। मथुर देखते हैं, ठाकुर इधर से जाते समय शिव हैं उधर से लौटते समय कालीरूप में हैं। मथुर बाबू विस्मित हो प्रणिपात करते हैं। तैलंग स्वामी और गुरु तोतापुरी भी स्वीकार करते हैं—श्रीरामकृष्ण अवतार पुरुष हैं।

आते हैं नरेन। अविश्वासी नरेन्द्रनाथ। कहते हैं—दिन-रात तो ये केवल 'माँ' 'माँ' करते रहते हैं, क्या मुझे अपनी माँ को दिखा सकेंगे? और ठाकुर उन्हें माँ का चाक्षुष प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) भाव-विमुग्ध हो जाते हैं।

गिरीश घोष आते हैं। अपना संदेह-निवारण करते। नशे में चूर। किन्तु नशा मिट जाता है। स्वीकार करते हैं—मैं जानता हूँ, इस लोक में और परलोक में तुम्हीं केवल मेरे हो। तुम्हीं मेरे भगवान हो।

और भी कितने ही आते हैं सन्देह लेकर और अपना संदेह-भंजन कर लौट जाते हैं। अस्वीकार की मुद्रा में आते हैं और नत-विनत होकर स्वीकार कर लेते हैं। सब एक प्रकार से वैदिक ऋषि की वाणी ही दुहराते हैं—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा·····...ओ विश्व के निवासियो, सुनो मैंने सूर्य की भाँति परम ज्योतिर्मय उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो समस्त अज्ञान रूपी अंधकार से परे हैं। केवल उसी को जानकर मृत्यु की भीषणता को पार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है।

श्रीरामकृष्ण युगावतार हैं। इस युग के प्रत्येक प्राणी के हृदय-कमल में विराजनेवाले परम चेतना के भास्वर स्वरूप। हमें और आपको अपनी अंतरात्मा में प्रतिष्ठित श्रीरामकृष्णरूपी दिव्यालोक का उद्घाटन करना ही होगा। इसके सिवा दूसरा कोई अन्य मार्ग है ही नहीं।

जिन्होंने श्रीरामकृष्ण के मुख से प्रत्यक्ष रूप से उनकी वाणी सुनी, उन्होंने तो उनकी दिव्यता के गान किये ही, जिन्होंने अन्य स्रोतों से उनकी वाणी का अध्ययन-मनन किया उन्होंने भी चकित-चमत्कृत होकर उनकी महिमा और गरिमा के गान किये।

स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की 'मेरे प्यारे भाई, श्रीरामकृष्ण परमहंस ईश्वर के अवतार थे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। ······भगवान श्रीकृष्ण का कभी जन्म हुआ था या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम, और बुद्ध, चैतन्य आदि अवतार एकदेशीय हैं पर श्रीरामकृष्ण परमहंस सब की अपेक्षा आधुनिक और सबसे पूर्ण हैं—ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, उदारता और लोकहित के मूर्तिमान स्वरूप हैं। किसी दूसरे के साथ क्या उनकी तुलना हो सकती है? जो उनके गुणों का आदर नहीं कर सकता है, उसका जीवन व्यर्थ है। मैं परम भाग्यशाली हूँ कि मैं जन्म-जन्मान्तर से उनका दास रहा हूँ। उनका एक शब्द भी मेरे लिए वेद-वेदान्त से अधिक मूल्यवान है। तस्य दासदासदासोऽहम् – अरे, मैं तो उनके दासों के दासों का दास हूँ। ···चंद मछुओं और बेपढ़ों ने ईसा मसीह को ईश्वर कहा था, परन्तु शिक्षित लोगों ने उन्हें मार डाला: अपने जीवन-काल में बुद्धदेव ने बहुत से व्यापारियों और ग्वालों से सम्मान पाया; परन्तु श्रीरामकृष्ण अपने जीवन-काल में पूजे गये थे—इसी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में—विश्वविद्यालय के असाधारण योग्यता प्राप्त विद्वानों ने उन्हें ईश्वर का अवतार माना ·····(कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि) के विषय में केवल थोड़ी-सी बातें लिखी गयी हैं। बंगाली कहावत है कि 'जिसके साथ हम कभी नहीं रहे हैं, वह व्यक्ति अवश्य ही उत्तम गृहस्वामी होगा।' परन्तु ये तो एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनकी संगति में हम दिन-रात रहे हैं और फिर भी हम इनका व्यक्तित्व उन सबसे बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। क्या तुम इस अद्भुत व्यापार को समझ सकते हो?'' (वि०सा०द्वि०खं० पृ० ३६०-६१)।

इस अद्भुत व्यापार को हमें समझना होगा। क्या है यह अद्भुत व्यापार! वह यह है कि रामकृष्ण को स्वीकार किये बिना हमें विश्व में आशा की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती। विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनवी ने आधुनिक विज्ञान के आत्मघाती आविष्कारों को देखकर भावी विश्व के प्रति गहन निराशा व्यक्त की थी। आज से प्राय: चार दशक पूर्व श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने दिल्ली में उन्हें श्रीरामकृष्ण वचनामृत के अंग्रेजी रूपान्तर की एक प्रति भेंट की। और उसे पढ़कर टॉयनवी ने लिखा—,आचरणों में अभिव्यक्ति श्रीरामकृष्ण का सन्देश अद्भुत था। ·····उनका जन्म उस विश्व में हुआ था, जो पहली-

द्वार अन्ततः चिरस्थायी रूप में एकीकृत हुआ था। आज, हमलोग विश्व इतिहास के इस संक्रान्तिकाल में अब भी रह रहे हैं, किन्तु अब यह स्पष्ट होने लगा है कि वह अध्याय जिसका पश्चिमी प्रारंभ हुआ था, उसका, यदि मानव जाति के आत्म-संहार में उपसंहार नहीं हुआ तो भारतीय उपसंहार होना होगा। ...सम्राट् अशोक और महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धान्त और श्रीरामकृष्ण के धर्मों की एकता के साक्ष्य में ही वह रुख और भाव हमलोग पाते हैं जो मानव-जाति को एक परिवार के रूप में साथ-साथ बढ़ने को सम्भव बना सकते हैं—और, इस आणविक युग में, अपना विनाश करने से बचने के लिए एकमात्र यही विकल्प है।' (वर्ल्ड थिंकर्स ऑन रामकृष्ण-विवेकानन्द: पृ० १०-११)।

श्रीरामकृष्ण के अवतरित होने का रहस्य धीरे-धीरे खुल रहा है। अवगुंठन हट रहा है। पर्दा उठ रहा है। अंधकार घट रहा है। श्रीरामकृष्ण विश्व मानवता के आदर्श हैं। लेकिन सबसे बढ़कर वे हैं हमारे राष्ट्र के आदर्श। "किसी राष्ट्र के अभ्युदय के लिए उसके साथ एक आदर्श होना आवश्यक है। असल में वह आदर्श है निर्गुण ब्रह्म। लेकिन चूँकि तुम सब लोग किसी निराकार आदर्श से प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते, इसलिए तुम्हें साकार आदर्श चाहिए। श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के रूप में वह तुम्हें मिला है। अन्य व्यक्ति अब हमारे आदर्श क्यों नहीं बन सकते, इसका कारण यह है कि उनके दिन लद चुके हैं, और इसके लिए कि वेदान्त सबको उपलब्ध हो सके, निश्चय ही ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसकी सहानुभूति वर्तमान पीढ़ी से हो। श्रीरामकृष्ण से इसकी संपूर्ति होती है। अतः अब तुम्हें चाहिए कि उनको सबके समक्ष रखो।" —यह उद्घोष है स्वामी विवेकानन्द का।

अतएव, मतवादों, आचारों, पंथों तथा गिरिजाघरों एवं मन्दिरों से ऊपर उठकर श्रीरामकृष्ण को अपनी आत्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा उपलब्ध कर हमें उस धर्म-धन का उपार्जन करना होगा जिसे पाकर हम मृत्यु को पार कर सकते हैं। श्रीरामकृष्ण मानव जाति के श्रेष्ठ आचार्य हैं अनन्त ज्योति की असीम शक्ति हैं। वे हमारे राष्ट्रीय आदर्श हैं, दिशाहारा विश्व के एकान्त पथ-प्रदर्शक हैं। उन्हें अपनाने के अतिरिक्त, उन्हें स्वीकारने के सिवा और कोई दूसरा पथ है ही नहीं।

भगवान् श्रीरामकृष्ण हम में यह भाव भरें कि पूरी आस्था से, दृढ़ संकल्प से, अनन्त धैर्य के साथ हम उनके पथ के यात्री बन सकें उनसे मेरी यही प्रार्थना है। जय श्रीरामकृष्ण!

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

—स्वामी विज्ञानानन्द

अनुवादक—डा. आशीष बनर्जी

वाराणसी।

स्वामी विज्ञानानन्द जी कई दिनों से बेलुर मठ में रह रहे हैं। उनकी अमृतमय वाणी को सुनकर जीवन में धर्मालोक लाभ करने के लिए प्राय: सुबह-शाम मठ के संन्यासी एवं ब्रह्मचारीगण उनके निकट उपस्थित होते हैं। एक दिन उपस्थित संन्यासियों से उन्होंने स्वामीजी के प्रसंग में कहा, "स्वामीजी अपने कमरे में ही बैठे थे। उन दिनों यह बीच वाला किवाड़ खुला रहता था। हम लोग इधर से भी उनके कमरे में आते-जाते रहते थे। कुछ दिनों से मेरे मन में यह विचार उठ रहा था कि, स्वामीजी ने देश-विदेश भ्रमण कर सैकड़ों भाषण दिये, हर तरह के नर-नारियों से मिले, क्या यह सब ठाकुर के भाव के अनुकूल था? वे इतनी महिलाओं से क्यों मिले? यही सब मैं सोचता था। अत: एक दिन स्वामी जी को एकान्त में पाकर मैंने उनसे पूछा, अच्छा महाशय, पाश्चात्य देश में जाकर महिलाओं से भी आपने मेल-मिलाप किया। किन्तु ठाकुर की शिक्षा एवं उपदेश दूसरे ही थे। वे कहते थे, 'संन्यासी को नारी मूर्ति या चित्र भी नहीं देखना चाहिए।' मुझे भी उन्होंने विशेष रूप से कहा था, 'खबरदार, कभी स्त्रियों से मेल-जोल न करना, अत्यधिक भक्तिमती होने पर भी नहीं।' तभी मैं सोच रहा था, आपने ऐसा क्यों किया।" मेरी बातों को सुनकर स्वामीजी बहुत गम्भीर हो गये। उनके मुख की ओर देखकर मैं भयभीत हो गया, उनका चेहरा तमतमा उठा। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "देख पेसन, ठाकुर को तूने जितना समझा है, ठाकुर क्या उतने ही हैं? और तूने ठाकुर को समझा ही कितना है? जानता है, ठाकुर ने मेरा स्त्री-पुरुष भेद मिटा दिया है। आत्मा में स्त्री-पुरुष भेद कैसा रे? इसके अतिरिक्त ठाकुर आये हैं समस्त जगत् के लिए। वे क्या चुन-चुन कर समस्त पुरुषों का उद्धार करने ही आये थे? वे सबका उद्धार करेंगे, स्त्री पुरुष सभी का। तुमलोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुरूप मापदंड से नाप कर ठाकुर को इतना छोटा करना चाहते हो! उनकी कृपा इस दुनिया के नर-नारी तो पायेंगे ही, अन्य लोकों में भी वह पहुँचेगी। उन्होंने तुझे जो कुछ कहा वह मिथ्या नहीं है वरन् अति सत्य है। उन्होंने जिस प्रकार उपदेश दिया तू उसी प्रकार चल। परन्तु मुझे उन्होंने अन्य प्रकार से कहा है। कहा क्या है, स्पष्ट दिखा दिया है। वे हाथ पकड़कर जो भी कराते हैं, मैं वही करता हूँ। यह कहते-कहते स्वामीजी कुछ शान्त हुए। मैं तो स्वामीजी का यह रौद्र रूप देखकर भय से स्तंभित हो गया। मैं और क्या कहता! वहाँ से खिसक कर बचने की सोचने लगा।

मेरी स्थिति को देखकर स्वामीजी को शायद दया आ गयी। वे थोड़ा मुस्कुराकर बोले, "नारियों के अन्दर उस आद्या शक्ति को बिना जगाये क्या किसी जाति का जागरण हो सकता है? मैंने तो सारी दुनिया घूम-घूम कर देख ली। सभी देशों में महिलाओं की स्थिति एक सी ही है, विशेष रूप से अपने देश में। इसी कारण इस जाति का इतना अध: पतन है। नारियों के जगाने से ही देखोगे, समस्त जाति जाग उठेगी। इसी कारण

माँ सारदा आयी हैं। माँ के आगमन के बाद से ही सभी देशों की नारियों में जागरूकता आयी है। यह तो केवल प्रारम्भ मात्र है, अभी कितना कुछ होगा, देखोगे"।

स्वामीजी और कुछ कहने जा रहे थे, कि इसी समय एक व्यक्ति के वहाँ आ जाने से स्वामीजी उसी से बात करने लगे। मैं भी उस समय कमरे से चला आया। स्वामीजी इतनी दृढ़ता के साथ सब बातें कह रहे थे कि उनके प्रत्युत्तर में कुछ कहने का साहस मुझमें न था। परन्तु मैं मन ही मन सोच रहा था कि ठाकुर ने मुझे जिस प्रकार बताया था, मैं वैसा ही करूँगा। स्वामीजी की बात स्वतंत्र है। वे ठाकुर के प्रमुख पार्षद हैं। वास्तव में स्वामी जी ने ठाकुर को जैसा समझा था वैसा और कौन समझ सकता है? उनके द्वारा ही ठाकुर ने अपने सब कार्य करवा लिये। स्वामी जी तो अद्वितीय हैं। हमलोग तो स्वामीजी नहीं हो सकते, न! वैसे, स्वामी जी अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ आलाप आलोचना करते थे अवश्य, परन्तु नये संन्यासी अथवा ब्रह्मचारियों को कभी भी उनके निकट नहीं जाने देते थे। उनको कोई सामान आदि भिजवाना होता तो स्वयं अथवा किसी प्रौढ़ संन्यासी के हाथ भिजवाते थे। यहाँ तक कि अपने कुछ गुरुभाइयों को भी उन लोगों के करीब नहीं जाने देते थे।

"स्वामी जी से मैं जितना प्रेम करता था उतना ही डरता भी था। जब देखता था कि उनका मिजाज ठीक नहीं है तो मैं उनसे दूर ही रहता था। उस समय यदि स्वामी जी मुझे बुलाते तो मैं उनको दूर से ही, "महाशय, अभी मैं बहुत व्यस्त हूँ; फिर आऊँगा।" कहकर वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाता था।

"स्वामीजी अभी भी यहाँ हैं। मैं तो उनके कमरे के सामने से गुजरते समय दबे पैर जाता हूँ ताकि उन्हें कोई असुविधा न हो। उनके कमरे की तरफ देखता तक नहीं हूँ, कहीं उनसे आँखें न मिल जाय।"

इस बात को सुनकर किसी संन्यासी ने उनसे पूछा, "महाराज, स्वामी जी क्या अभी भी आपको दिखाई देते हैं?"

महाराज—"वे रह रहे हैं और मैं देख न पाऊँ? वे इस सामने के बरामदे में घूमते हैं, छत पर चहल-कदमी करते हैं, कमरे में गाना गाते हैं, और भी बहुत कुछ करते हैं।

"पहले जब मैं मठ में रहा करता था, अधिकतर इस छोटे कमरे में रहता था। अधिकांशतः इस बरामदे वाले दरवाजे को नहीं खोलता था, क्योंकि प्रायः स्वामी जी इसी बरामदे में टहलते थे। वे एक-एक समय एक-एक भाव में रहा करते थे। एक घटना मुझे अच्छी तरह याद है। तब वे जीवित थे। उस समय की एक घटना है। भाव-विभोर वे सारी रात गाना गाते हुए घूमते रहे 'मा त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुनधरा परात्परा' इत्यादि। अधिकतर एक ही पंक्ति 'मा त्वं हि तारा' ही गाते रहे। स्वामी जी जब इस प्रकार भाव-विभोर होते थे, तब कोई उनके करीब आने का साहस नहीं करता था। गाने की केवल एक ही पंक्ति गाते और टहलते रहते। कभी-कभी गाते-गाते फूट-फूटकर रो पड़ते, फिर चुप होकर खड़े हो जाते। सुबह तक यही भाव बना रहा।

"स्वामी जी ने बाहर इतना ज्ञान और कर्म का प्रचार किया है, परन्तु उनके अन्दर प्रेम-भाव भरा हुआ था। अन्दर से वे बहुत कोमल थे। बाहर से पौरुष-विक्रम परन्तु उनका हृदय माँ के हृदय की तरह कोमल था तथा गुरुभाइयों के प्रति उनको कैसा अगाध प्रेम था! विशेष रूप से स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज से बहुत प्रेम करते थे, तथा उन्हें बहुत मानते भी थे। ठीक 'गुरुवत् गुरुपुत्रेषु'। फिर भी किसी का दोष अथवा त्रुटि सहन नहीं कर पाते थे। जिन राखाल महाराज को प्राणों से भी अधिक चाहते थे, उन्हीं को एक दिन इतनी गालियाँ दीं कि राजा महाराज फूट-फूटकर रोने

लगे, जबकि दोष पूर्णतया मेरा ही था। मुझे बचाने के लिए महाराज ने पूरा दोष अपने ऊपर ले लिया। उन दिनों गंगा के किनारे बांध एवं घाट बनाने का कार्य चल रहा था। स्वामी जी ने मुझसे कहा था—"पेसन, सामने एक घाट बनाना अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त गंगा के किनारे भी थोड़ा बांधना पड़ेगा। 'तू एक योजना बनाकर अनुमानित व्यय मुझे बताना। मैंने एक योजना बनाकर कितना व्यय होगा उनको बताया। स्वामी जी के भय से मैंने खर्च कम दिखा दिया कि लगभग तीन हजार होने पर ही बन जायेगा। स्वामी जी भी बहुत खुश हुए। तभी महाराज को बुलाकर कहने लगे, 'क्यों राजा सामने एक घाट एवं बांध होने पर अच्छा होगा ना! तुम क्या कहते हो! पेसन तो कह रहा है कि सिर्फ तीन हजार रुपये में ही हो जायेगा।' तुम कहो तो कार्य आरम्भ हो। महाराज ने कहा कि यदि तीन हजार रुपये में ही हो जाये तो, इन रुपयों का बन्दोबस्त हो जायेगा। कार्य तो प्रारम्भ हुआ। मैं ही कार्य का अवलोकन करता था तथा राजा महाराज खर्च आदि का हिसाब रखते तथा पैसे का बन्दोबस्त भी वे ही करते थे। कार्य में जितनी प्रगति होती थी, स्वामी जी उतने ही आनन्दित होते थे। कभी-कभी हिसाब आदि देखकर, धन की व्यवस्था है कि नहीं, उसकी खोज करते थे। इधर कार्य जितना आगे बढ़ता जाता, उतना ही देखा गया कि तीन हजार रुपये में कार्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। मैंने स्थिति बिगड़ते देख, राजा महाराज से जाकर कहा कि, "देखिए, स्वामी जी के डर से मैंने उन्हें बताया था कि यह कार्य तीन हजार में ही पूरा हो जायेगा। परन्तु इस कार्य को पूरा समाप्त होने में इससे बहुत अधिक व्यय होगा। अब क्या उपाय किया जाय बताइये।" महाराज बहुत ही सज्जन थे। मेरी स्थिति को देखकर उन्हें दया आ गयी। उन्होंने मुझे साहस देकर कहा, "अब क्या किया जा सकता है? जब कार्य प्रारम्भ किया जा चुका है तब किसी भी प्रकार से उसे खतम तो करना ही है। तुम उसके लिये चिन्तित मत होओ। कार्य सुचारु रूप से करो। मैं तो निश्चिन्त हो गया परन्तु मन-ही-मन डर रहा था कि न जाने कब स्वामी जी की गालियाँ खानी पड़ें। इन्हीं दिनों एक दिन स्वामी जी ने कार्य व्यय का हिसाब माँगा। महाराज हिसाब बहुत सुन्दर रूप में रखते थे। हिसाब देखकर जब उन्हें विदित हुआ कि तीन हजार रुपयों से भी अधिक का व्यय हो चुका है और कार्य काफी शेष है, तब उन्होंने राजा-महाराज को बहुत डाँटा-फटकारा। महाराज ने एक बात भी नहीं कही, चुपचाप सब सहते रहे। परन्तु भीतर ही भीतर उनको बहुत दुःख हुआ। स्वामीजी के जाते ही उन्होंने अपने कमरे में जाकर भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। इधर अपने कमरे में आकर ही थोड़ी देर में, स्वामीजी को पश्चात्ताप हुआ कि राजा को इतना कुछ कहना ठीक नहीं हुआ। मैं बगल में ही खड़ा सब कुछ देख रहा था तथा सोच रहा था कि मेरे कारण ही महाराज को इतना कष्ट झेलना पड़ा। स्वामीजी ने अचानक मुझको बुलाकर कहा, "देख तो पेसन, राजा क्या कर रहा है? मैंने महाराज के कमरे के पास जाकर देखा कि खिड़की-दरवाजे सब बन्द हैं। दो एक बार 'महाराज-महाराज' पुकारने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला। स्वामीजी के पास आकर जब मैंने यह बात बतायी तो उन्होंने उत्तेजित होकर मुझसे कहा तू तो बहुत बेवकूफ है। मैंने तुझे देखने के लिए कहा कि राजा क्या कर रहा है और तू आकर कह रहा है कि उसके कमरे की खिड़की-दरवाजे सब बन्द है! जल्दी जाकर देख राजा क्या कर रहा है? मैंने पुनः राजा महाराज के कमरे के पास आकर आवाज दी परन्तु कोई उत्तर न मिलने पर धीरे-धीरे कमरे का दरवाजा खोलकर देखा कि राजा महाराज बिस्तर पर औंधे लेटे तकिये में मुँह छिपाकर फूट-फूट कर रो रहे हैं। मैंने उनके पास जाकर कहा, "महाराज, आज आपको मेरी वजह से इतना कष्ट झेलना पड़ा।" महाराज तब भी रो रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा, "देखो तो, हरि प्रसन्न! इसमें मेरा क्या दोष

है ? फिर भी कभी-कभी स्वामी जी ऐसी कड़ी बात कह देते हैं कि सहा नहीं जाता। कभी-कभी मन में आता है कि यह सब छोड़-छाड़कर कहीं पहाड़ों में चला जाऊँ।"

स्वामी जी से आकर मैंने कहा कि महाराज लेटे-लेटे रो रहे हैं। सुनते ही स्वामी जी पागल की तरह व्यग्र हो, कमरे में गये, मैं भी पीछे-पीछे गया। देखता क्या हूँ कि स्वामी जी महाराज के कमरे में जाकर महाराज को गले लगाकर रोते हुए कह रहे हैं, 'राजा, मुझे क्षमा कर दो भाई। मैंने क्रोध में आकर कितना अन्याय किया है। तुमको अपशब्द कह दिये। मुझे क्षमा करो भाई।' तब तक महाराज ने स्वयं को काफी सम्भाल लिया था। परन्तु स्वामी जी को रोते देखकर वे अवाक् हो गये। एवं ऐसी स्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए, कुछ समझ नहीं पा रहे थे। अंत में उन्होंने कहा, "तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ? अपशब्द कहे तो क्या हो गया ? मुझसे प्रेम करते हो तभी तो ऐसा कहा"। उस समय तक भी स्वामी जी उनको सीने से लगाकर बार-बार यही कहे जा रहे थे, मुझे क्षमा करो भाई। ठाकुर तुमसे कितना स्नेह करते थे; वे कभी भी तुमसे कड़ी बात नहीं कहते थे। और मैंने इस तुच्छ कार्य के लिए तुम्हें गालियाँ दीं। तुम्हारे मन को इतना दुःख पहुँचाया। अब मैं तुम लोगों के साथ रहने के योग्य नहीं हूँ। चला जाता हूँ हिमालय में वहाँ जाकर निर्जन में कहीं रहूँगा।'

महाराज ने कहा, "ये कैसी बात है, स्वामी जी ! तुम्हारे अपशब्द तो हमलोगों के लिए आशीर्वाद हैं। तुम कहाँ जाओगे ? तुम्हीं तो हमलोगों के मस्तक हो। तुम्हीं चले जाओगे तो हम क्या लेकर रहेंगे ?

"इस प्रकार बहुत देर तक वार्तालाप करने के पश्चात् दोनों शान्त हुए। उस दिन का दृश्य जीवन भर नहीं भूलूँगा। स्वामी जी को इस प्रकार अधीर होकर कभी रोते नहीं देखा। उनका आपस में एक दूसरे के प्रति कितना प्रेम था ! स्वामीजी गुरुभाइयों को जननी की तरह प्यार करते थे। इसी कारण किसी का थोड़ा-सा भी दोष नहीं सहन कर पाते थे। वे चाहते थे कि उनके गुरुभाई उनकी तरह होवें उनसे भी बड़े होवें। स्वामी जी के प्रेम की तुलना नहीं है।"

बेलुड़ मठ में एक दिन प्रसंगवश स्वामी विज्ञानानन्द जी ने दक्षिणेश्वर में ठाकुर से प्रथम भेंट के सम्बन्ध में बताया था, "मैं उन दिनों कलकत्ता में कॉलेज में पढ़ता था, आयु सत्रह-अठारह वर्ष होगी। उन दिनों, एक दिन, ठाकुर के दर्शन के लिये दक्षिणेश्वर गया। सायंकाल का समय था। उस समय ठाकुर के पास बहुत से भक्त बैठे थे। मैं उन्हें भूमिष्ठ हो प्रणाम करके एक कोने में बैठ गया। छोटी चारपाई पर बैठकर वे आनन्दपूर्वक सबसे बातें कर रहे थे। उनमें कोई विशेषता दिखाई नहीं देती थी। देखने में वे बहुत साधारण व्यक्ति की तरह थे। परन्तु उनकी हँसी अद्भुत थी। वैसी हँसी और किसी की कहीं नहीं देखी। जब वे हँसते थे तब उनके मुखमण्डल नेत्र तथा समस्त शरीर में एक आनन्द की लहर खेल जाती थी। एवं वह दिव्य आनन्दमय हँसी वहाँ उपस्थित सभी लोगों के हृदय से दुःख-कष्ट, शोक-ताप मानो हमेशा के लिए दूर कर देती थी। उनका कण्ठ स्वर अत्यन्त मधुर था। इतना मधुर कि, इच्छा होती थी कि बैठकर केवल उनकी बातें ही सुनता रहूँ। कानों में जैसे अमृत वर्षण करती थी। उनके नेत्र द्वारा भी उज्ज्वल दृष्टि तीक्ष्ण एवं प्रेमपूर्ण थी। जब देखते तो लगता था, मानो अन्दर तक सबकुछ देख पा रहे हैं। मुझे तो ऐसा ही लगा था।

'उनके कमरे में एक सघन शक्ति थी। जो भी वहां उपस्थित थे, उन्हें देखकर लगता था कि वे सब ठाकुर की बातों को सुनकर आनन्द-विभोर हो रहे हैं। उस दिन क्या बातें हुई मुझे याद नहीं, परन्तु उनका वह रूप मेरे हृदय में सदा के लिए अंकित हो गया है। कमरे के एक कोने में बैठकर मैंने सब कुछ सुना और देखा। इधर अपने अन्दर भी मैं एक अव्यक्त आनन्द

का अनुभव कर रहा था। बहुत देर तक तन्मय होकर मैं बैठा रहा। अनेक बातें हुईं। परन्तु मेरा ध्यान उस ओर था ही नहीं। मैं एक मन से उन्हीं को देख रहा था। उन्होंने मुझसे कोई बात नहीं पूछी। मैंने भी उनसे कुछ नहीं कहा। धीरे-धीरे सभी उठकर जाने लगे। बाद में केवल मैं ही एक कोने में बैठा रह गया। ठाकुर अपनी छोटी चारपाई पर बैठे एकटक मुझे देख रहे थे। मैं भी तब चलने का विचार कर उन्हें प्रणाम करके खड़ा हुआ, उसी समय ठाकुर ने कहा, "तू कुश्ती लड़ सकता है? मुझसे लड़ सकेगा? एक दाव मुझे लड़ा तो जरा!! ऐसा कहकर ठाकुर भूमि पर सीधे खड़े हो गये। मेरा शरीर बहुत बलिष्ठ था, देखने में भी मैं पहलवान की तरह था। उनकी बातें सुनकर मैं तो स्तम्भित हो गया। सोचने लगा "वाह भाई, कैसे साधु का दर्शन करने आया हूँ, जो कुश्ती लड़ना चाहता है।" खैर, जो भी हो, मैंने उनसे कहा, "हाँ कुश्ती लड़ना जानता हूँ!" इधर ठाकुर खड़े होकर पहलवानों की तरह ताल ठोकने लगे तथा मृदु-मृदु हँसने लगे। फिर वे मेरी ओर अग्रसर हो मुझे जोरों से ठेलने लगे। वे मुझसे क्या लड़ते? मैंने उनको ठेलते हुए दीवार से ले जाकर भिड़ा दिया। ठाकुर उस समय भी हँस रहे थे एवं मुझे पकड़े हुए थे। बाद में मुझे महसूस हुआ कि उनके हाथों से कोई चीज मेरे अन्दर सर-सर करती हुई प्रविष्ट होती जा रही है। उस स्पर्श से मेरा सर्वांग रोमांचित हो गया और शरीर क्रमश: निष्चेष्ट हो गया। थोड़ी देर बाद ठाकुर ने मुझे छोड़कर हँसते हुए कहा, क्यों रे तूने मुझे हरा दिया न? इतना कहकर वे अपनी छोटी चारपाई पर जा बैठे। क्या उत्तर दूँ, कुछ समझ नहीं पा रहा था। इतना ही समझ सका कि यह उनका एक खेल था। इधर मेरे अन्दर एक अनिर्वचनीय आनन्द की लहर दौड़ने लगी। यह अनुभव हो रहा था कि उन्होंने मेरे अन्दर एक शक्ति प्रवाहित कर मुझे वशीभूत कर लिया है। मैं निर्वाक् होकर बैठा रहा, फिर ठाकुर मेरे करीब आकर धीरे-धीरे मेरी पीठ को थपथपाते हुए कहने लगे, "बीच-बीच में यहाँ आते रहना, बिना आये क्या होता है?" इत्यादि! फिर मुझे उन्होंने कुछ प्रसाद खाने को दिया। फिर मैं कलकत्ता वापस आ गया। उन्होंने मुझ पर कुछ कर दिया कि कई दिन तक उसका नशा मेरे उपर छाया रहा। मुझे केवल यह अनुभव हो रहा था कि उन्होंने मेरे दैहिक बल का हरण कर अपनी आध्यात्मिक शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर दी है। उसके बाद और कई बार ठाकुर के पास गया था। दक्षिणेश्वर में उनके पास मैंने रात्रिवास भी किया। उनकी अद्भुत मोहिनी शक्ति का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। जिसने उनको एक बार देखा है वह सर्वदा के लिए उनके प्रति आकृष्ट हो गया था।

"एक दिन सायंकाल उनके पास जाकर मैंने वहाँ रात्रियापन करने की अनुमति माँगी। उन्होंने सानन्द अनुमति प्रदान की। रात को उनके यहाँ खाने-पीने की विशेष व्यवस्था नहीं थी। माँ काली के भोग का प्रसाद ही उनके लिए आता था। उस प्रसाद से थोड़ा वे ग्रहण करते एवं बाकी का प्रसाद जो उनके यहाँ रात्रिवास करता, उसे देते थे। ठाकुर की खुराक बहुत सामान्य थी—दो-एक प्रसादी पूड़ी, थोड़ी खीर एवं थोड़ी मिठाई वे खाते थे। ये ही उनका रात्रि का भोजन था, मैं तो प्रसाद की अल्पता देखकर मन-ही-मन चिन्तित हो गया और सोचने लगा कि लगता है रात्रि उपवास में ही बितानी होगी। उन दिनों मैं युवक था, शरीर में बल भी था, खाता भी खूब था, हजम भी हो जाता था। इतने कम प्रसाद से मेरा क्या होगा? ठाकुर शायद मेरे मन की बात जान गये और अन्दर नौबतखाने से मेरे लिए रोटी और सब्जी मंगवाई। उससे भी कुछ नहीं हुआ। उतना ही खाकर उनके कमरे के फर्श पर सो गया। मध्य रात्रि में अचानक नींद टूटने पर मैंने देखा, ठाकुर भाव-विभोर हो टहल रहे हैं। कभी उन्मत्त की तरह इधर-उधर दौड़ रहे हैं, कभी अस्फुट स्वर में कुछ बोल रहे हैं, और कभी ताली बजाकर सस्वर भगवान का नाम गान कर रहे हैं। ठाकुर को दिन में देखा था एक प्रकार का : लोगों से बातचीत करते

और हँसी-मजाक करते। परन्तु रात्रि में उनकी इस अवस्था को देख भय से स्तम्भित हो गया। चुपचाप लेटे हुए उनके ये क्रिया-कलाप देखता रहा। उस रात फिर नींद नहीं आयी। शेष रात्रि ठाकुर की लीला देखते ही बीत गयी। भोर होते ही ठाकुर भी अपनी सहज अवस्था को लौट आये। सुबह बहुत-सी बातें हुईं। तब उन्हें देखकर ऐसा लगा ही नहीं कि वे ही रात को ऐसा आचरण कर रहे थे। उनका सब कुछ अद्भुत था, बाहर से देखने में साधारण मनुष्य की तरह थे, परन्तु बाबा! अन्दर मानो जीवित ग्रास कर लेने वाले देवता की तरह थे। स्वामीजी, महाराज आदि सभी को उन्होंने मानो जीवित ही ग्रास कर लिया था। थोड़ी देर चुप रहकर पुनः बोले, "हम लोग बहुत भाग्यशाली हैं कि उनके पास पहुँच गये। उन्होंने कृपापूर्वक हमें अपनी शरण में ले लिया था।"

कुछ संन्यासियों ने पूछा, "महाराज आपको क्या अभी भी ठाकुर के दर्शन प्राप्त होते हैं?" इस प्रश्न पर महाराज बहुत गम्भीर हो गये और बोले, "आवश्यकता पड़ने पर उनके दर्शन होते हैं, अवश्य।"

बेलुड़ मठ में अन्य एक दिन प्रसंगवश स्वामी विज्ञानानन्दजी ने कहा था, "ठाकुर हम लोगों के लिए कितनी चिन्ता करते थे। उनके पास बहुत दिन न जाने पर वे किसी द्वारा बुलवाते थे अथवा खोज-खबर लेते थे। शरत् महाराज कभी-कभी ठाकुर का समाचार लेकर मेरे पास आते थे। एक बार इसी प्रकार उनके बुलवाने पर मैं दक्षिणेश्वर गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि उनके यहाँ भीड़-भाड़ नहीं है। उनके पास जाते ही उन्होंने आरोप के स्वर में पूछा, 'क्यों रे, कैसा है? आजकल यहाँ बहुत कम आता है।" मैंने कहा, "आने की इच्छा नहीं हुई इसीलिए नहीं आया।" इस पर ठाकुर ने हँसकर कहा, "यह अच्छा है, ध्यान आदि थोड़ा-बहुत करता है तो? मैंने कहा, 'ध्यान करने का प्रयास तो करता हूँ, किन्तु ध्यान होता कहाँ है, ध्यान तो महाशय, बिलकुल नहीं होता। ठाकुर सुनकर आश्चर्यान्वित होकर बोले, "क्या कहता है, ध्यान नहीं होता, क्यों नहीं होगा, जरूर होगा।"

इसके बाद वे थोड़ी देर चुप रहे। मैं भी उनके मुख की ओर देखता रहा। देखें, क्या कहते हैं। देखते-ही-देखते उनके मुखमण्डल का भाव बदल गया। उन्होंने बहुत गम्भीर भाव से कहा, "अच्छा, पंचवटी जा तो। वहाँ बैठकर ध्यान कर। यह कहकर मुझे ऊपर से नीचे तक देखने लगे। फिर बोले, "मेरे पास आ तो, जरा। उनके पास जाते ही उन्होंने मुझे जीभ बाहर निकालने को कहा, एवं जीभ पर उन्होंने ऊँगली से कुछ निशान बना दिया। मेरा शरीर उस समय कांप रहा था, भीतर-ही-भीतर आनन्द भी हो रहा था। तत्पश्चात् उन्होंने मुझसे कहा, "अब जा, पंचवटी में।"

मैं उनके आदेशानुसार धीरे-धीरे पंचवटी चला गया। इधर ठाकुर के स्पर्श मात्र से मेरा शरीर मानो शिथिल हो गया, पैर चल ही नहीं रहे थे,। किसी प्रकार पंचवटी जाकर ध्यान करने बैठा। उसके बाद मुझे कोई होश न रहा। जब ज्ञान हुआ तो देखा, ठाकुर मेरे पास बैठे मेरे शरीर को सहला रहे हैं। और मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं। उस समय भी मेरे ऊपर एक नशा-सा छाया हुआ था। बाद में उन्होंने पूछा, "क्यों रे, ध्यान हुआ?" मैंने कहा, "हाँ, आज तो अच्छा ध्यान हुआ।"

ठाकुर ने कहा, "देखा, अब रोज ध्यान होगा। कुछ दर्शन आदि हुआ?" ...उस दिन उनसे बहुत बातें हुईं। वे मुझे अपने कमरे में ले आये और बहुत स्नेह के साथ खाने को दिया। आहा! कितना स्नेह, कितना प्यार! उस समय वे और मैं ही उनके कमरे में थे। साधन भजन के संबंध में उस दिन अनेक गुह्य उपदेश उन्होंने दिये थे। मैंने, उनकी बातें सुनकर तथा आदर यत्न पाकर बिलकुल मुग्ध हो गया। उसी दिन से मैंने अनुभव किया कि वे मेरे कितने अपने हैं! मैं केवल यही सोचता था, आहा! वे मेरे लिए इतना सोचते हैं! उनकी कृपा

की तुलना नहीं है। ठीक-ठीक अहैतुकी कृपा!

उस दिन बातों-बातों में उन्होंने कहा था, "देखो, नारियों से दूर रहना, सदा सावधान रहना सांसारिक आँच भी शरीर में न लगने देना। सोने की स्त्री हो तो भी उस ओर मत देखना। तुम्हें ये बातें इसलिए कह रहा हूँ कि तुम लोग 'माँ' लोग हो, और तुम लोगों को बहुत कार्य करने होंगे, कौवे के द्वारा जूठा किया हुआ फल माँ की पूजा में नहीं चढ़ सकता। इसीलिए कह रहा हूँ, बहुत सावधान रहना।"

R. स्वामी विज्ञानानन्दजी का पूर्वाश्रम का नाम हरिप्रसन्न था। अतः उन्हें 'हरिप्रसन्न, प्रसन्न या 'पेसन' नाम से पुकारा जाता था।

o

बेलुड़ मठ में श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव

—स्वामी अमलेशानन्द

रामकृष्ण इन्सटिच्यूट ऑफ मोरल एण्ड

सोशल एजुकेशन, मैसूर।

फाल्गुन महीना। शुक्ल द्वितीया तिथि। शीत की जड़ता तोड़कर पृथ्वी में जग उठा है प्राणों का स्पन्दन। सागर से बहकर आनेवाले दक्षिणी पवन में है स्निग्धता का स्पर्श। नव पत्र पुष्प मंजरी से प्रकृति के अंगों का सुन्दर शृंगार हुआ है। चारों ओर पशु-पक्षी, लता-गुल्म, मनुष्यों के प्राणों में प्रेम की प्रेरणा, आनन्द का उच्छ्वास।

मधुमास फाल्गुन का मास। अवतार का आविर्भाव-दिवस। श्रीरामकृष्ण की शुभ जन्मतिथि। प्रकृति का यह आनन्द-उत्सव, यह आयोजन, लगता है उस देव-मानव के स्वागत के लिए ही हो रहा हो। आनन्द वासर की यह रचना, विराट् का यह पूजा-निवेदन, लगता है उनके लिए ही हो रहा हो। इस जगत्-महा-काव्य के कवि वे स्वयं जो हैं!

संघ देवता श्रीरामकृष्ण के पुण्य आविर्भाव का स्मरण कर रामकृष्ण संघ का प्राण-केन्द्र बेलुड़ मठ पत्र-पुष्प और मालाओं से सज्जित हुआ है। स्वामी विवेकानन्द के स्वेद-अश्रु-रक्त से निर्मित सर्वधर्म समन्वय का महाकेन्द्र श्रीरामकृष्ण मठ—बेलुड़ मठ। यहाँ श्रीरामकृष्ण का विशेष अधिष्ठान है, उनका विशेष प्रकाश है। अपने जीवन के अंतिम मुहूर्त में गुरु श्रीरामकृष्ण ने कहा था नरेन्द्रनाथ को,—'तुम अपने कंधे पर उठाकर मुझे जहाँ ले जाओगे मैं वहीं जाऊँगा और रहूँगा।' और निर्देश दिया था अपने प्रिय शिष्य को अपनी त्यागी सन्तानों को संघबद्ध करने का। गुरु के द्वारा दिये गये उस दायित्व का पालन करने के लिए नरेन्द्रनाथ दत्त स्वामी विवेकानन्द के रूप में परिणत हुए। उनके प्रेम की प्रतिश्रुति का पालन करने के लिए अपने हृदय का काफी रक्त बहाकर उन्होने प्रतिष्ठा की थी बेलुड़ मठ की। अपने हाथों से अपने प्रिय आत्माराम (श्रीरामकृष्ण की भस्मास्थि) को बेलुड़ के पुण्य क्षेत्र में स्थापित कर उन्होंने कहा था—"बहुकाल तक 'बहुजन हिताय' ठाकुर इस स्थान पर स्थिर होकर रहेंगे।"

ब्राह्म मुहूर्त। रात्रि और उषा के सन्धिक्षण में समस्त चराचर स्तब्ध हैं। महामौन ध्यानस्तब्ध पृथ्वी अनन्त के ध्यान में निमग्न है। आदि-अन्त हीन आकाश के वक्ष पर सहस्रों तारकों का मेला लगा है। इसी तारकाखचित आ-दिगन्त चन्द्रातप के नीचे शान्त समाहित है बेलुड़ मठ का विशाल मन्दिर। पूर्वाकाश में भोर का शुक्रतारा झलमल कर रहा है। गंगा की गैरिक धारा मठ की पादभूमि को प्रक्षालित करती हुई दक्षिण की ओर, सागर की ओर वह रही है। मंगल शंख वज उठे हैं। गंभीर शंखध्वनि मठभूमि को, गंगा के वक्ष को, आकाश और वातास को कम्पित कर महाकाश में लय हो जाती है। मठवासी साधु, भक्त जग उठे हैं। प्रातःकालीन ओस कणों से सिक्त घास पर वे धीरे-धीरे आगे वढ़ रहे हैं श्रीमन्दिर की ओर— प्रभु-दर्शन के लिए। गर्भ-मन्दिर का आवरण उन्मोचित होता है। पत्र-पुष्प-मालाओं से श्रीरामकृष्ण की संगमर्मर की मूर्ति सुसज्जित है। अंगों में नववस्त्र, गले में सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ। अगरु-धूप-चन्दन की दिव्य गन्ध से गर्भ मन्दिर आमोदित है। कर्पूर की आरती हो रही है। गंभीर सुर में गोंग वज उठता है— धुम्...धुम्...धुम्...। संक्षिप्त आरती के उपरान्त प्रणाम-मंत्र उच्चरित होता है—

ॐ स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतार वरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥

प्रभात का आलोक फूट उठता है। पूरब के दिगन्त को रंगकर नये सूर्य का उदय होता है। कुहासा समाप्त हो जाता है। स्वर्णोज्ज्वल धूप गंगा की तरंगों में मुकुट मणि की भांति शोभित हो रही है। गंगा का गेरुआ जल झलमल कर रहा है। विशाल पेड़ों के पत्तों पर ठहर गयी है धूप की झिलमिलाहट। दूवों पर पड़े ओस बिन्दु अदृश्य कारीगर की करामात से मुक्ता के दानों में परिणत हो गये हैं। ब्रह्मचारियों के समवेत कण्ठों से वेद मन्त्रों की ध्वनि स्फुरित हो रही है, 'ॐ मधुवाता ऋतायते। मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः संत्वोषधीः...।'

महानगरी जग उठती है। कर्ममुखर नगर की प्रान्तसीमा में आज एक आनन्दमय पुरुष को केन्द्र बनाकर आनन्द की वहार उतर गयी है। जनस्रोत उमड़ आता है—ट्रेन से, ट्राम से, वसों से, स्टीमरों से और पाँव पैदल। आज के शुभ दिन में सैकड़ों कार्यों को छोड़कर चला आ रहा है भक्तों का दल श्रीरामकृष्ण के चरणों में प्रणिपात होने के लिए। नित्य दिन की दैन्यता और विषाद की कालिमा श्रीरामकृष्ण की कृपा दृष्टि के सीमा क्षेत्र में आकर धुलकर साफ हो जाती है।

मठ के प्राङ्गण में पुराने ठाकुर-मन्दिर के सामने विराट शामियाना खड़ा किया गया है। सैकड़ों वर्षों का पुराना आन्दुल का काली कीर्तन सम्प्रदाय वहाँ शुरू करता है काली कीर्तन। शरीर पर गेरुआ अलखल्ला, माथे पर विशाल जटा, ललाट पर लाल तिलक। पूरे दिन भर चलेगा यह संगीत समारोह। श्रीरामकृष्ण का अति प्रिय काली कीर्तन। काली उनका इष्ट थीं। मातृसाधक भक्तों के स्वरोच्चार से मठ-प्राङ्गण मुखरित हो उठा है।

श्रीमन्दिर में श्रीरामकृष्ण की विशेष षोडशोपचार पूजा शुरू होती है। विशुद्ध वैदिक रीति से, तथा तांत्रिकों के मतानुसार प्रभु की अर्चना होती है। संन्यासी पूजकों के सुललित कण्ठों से पूजा के मंत्र उच्चरित होते हैं। अपनी पूजा ग्रहण करने के लिए भगवान का वे आवाहन करते हैं - ॐ श्रीरामकृष्ण इहागच्छ इहागच्छ; इहतिष्ठ इहतिष्ठ; इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि ।

धूप-दीप, कर्पूर, अगरु-गुग्गुल, पुष्प-चन्दन की सम्मिलित सुगन्ध से मन्दिर परिपूर्ण हो उठा है। शत-शत नर-नारी भक्तों के ऐकान्तिक पूजा-निवेदन से पूरा मन्दिर हम्-हम् करता है। प्रभु की मूर्ति अब संगमर्मर की प्रस्तर मूर्ति नहीं रह गयी है, वह चिन्मय हो उठी है। उनके अपार्थिव मुखमण्डल से ज्योति की आभा फूट उठती है। उस प्रसन्न प्रस्फुटित ज्योतिर्मय मुखमण्डल से झड़ रही है प्रेम और करुणा की पीयूषधारा। मन्दिर की प्रदक्षिणा करने भक्तमण्डली उपस्थित हुई। आनन्द

मुखर जनता परिक्रमा करती है—ब्रह्मानन्द मन्दिर की, सारदा मन्दिर की और स्वामीजी के मन्दिर की। उद्दाम संगीत के कल्लोल से उत्सव क्षेत्र मुखरित होता है—

'एसे छे नतुन मानुष, देखबि यदि आय चले
विवेक वैराग्य झुलि दुइ कांधे तार सदाइ झोले।
एसेछे नतुन मानुष, देखबि यदि आय चले।'

अर्थात्—

'आया एक अनोखा मानुस, चलो देखने जायें रे।
(वह) विवेक-वैराग्य की झोलियाँ सदा रहे लटकाये रे।।
आया एक अनोखा मानुस, चलो देखने जायें रे।'

मन्दिर की पूर्व दिशा में गंगा को पीछे कर विशाल मंडप तैयार किया गया है। मंडप में उत्तर तरफ श्रीरामकृष्ण का पूर्ण बड़ा-सा तैल चित्र स्थापित किया गया है। कृत्रिम पहाड़ की पृष्ठभूमि में भगवान श्रीरामकृष्ण की आनन्दविच्छुरित समाधिस्थ मूर्ति लता-पल्लवों से सुसज्जित होकर सस्मित हो उठी है। एक ओर शीशे की आलमारी में श्रीरामकृष्ण द्वारा व्यवहृत वस्तुओं की प्रदर्शनी लगी है। उनका पवित्र भस्मामृत एक ताम्र कलश में रखा हुआ है। वहीं उनके द्वारा व्यवहृत 'कन टोपी', हरी किनारी वाली ओढ़ने की चादर, 'पालिश किया हुआ एक जोड़ा जूता' आदि प्रदर्शित हैं। हजारों हजार व्यक्ति आज आयेंगे। भगवान् श्रीरामकृष्ण द्वारा व्यवहृत वस्तुओं को देखकर उनकी स्मृति मन में भास्वर हो उठेगी। भक्तों का हृदय तृप्त होगा, धन्य होगा।

इस मंडप में कथामृत (श्रीरामकृष्ण वचनामृत) का पाठ हो रहा है। दक्षिणेश्वर के दिन आँखों के सामने जीवन्त हो उठे हैं। मास्टर महाशय की अपूर्व लेखनी ने उन पुराने दिनों की जीवन्त छवि अंकित कर रखी है। आँखें मूँदने पर जैसे उस छोटे कमरे के दृश्य साकार हो उठते हैं—'शाम का अंधकार उतर आया है। …वृन्दा कहारिन धूप जला गयी है; धूप के धुएँ से घर में अन्धकार हो गया है। उस अस्पष्ट धूम्र-जाल में छोटी खटिया के ऊपर श्रीरामकृष्ण बैठे हैं। अधखुली आँखें; मन इस जगत् से ऊपर उठकर किसी सुदूर में अनन्त के ध्यान में मग्न है। निकट ही चटाई पर बैठे कई भक्त इस अद्भुत देव-मानव का दर्शन कर अवाक् हैं। मन-ही-मन विचार कर रहे हैं—ये क्या साधु हैं अथवा सिद्ध पुरुष? अथवा स्वयं ईश्वर मनुष्य के रूप में इस पृथ्वी पर लीला करने अवतरित हुए हैं!'

मन्दिर की उत्तर दिशा में खिचड़ी का प्रसाद-वितरण हो रहा है। विशाल जनता की पंक्तिबद्ध श्रेणी उमड़ पड़ी है मठ-प्राङ्गण से रास्ता तक। माथे पर कड़ी धूप झेलती हुई जनता प्रसाद-कणों की प्राप्ति की आशा लेकर शान्तभाव से अपेक्षा करती है। धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच सभी श्रेणियों के मनुष्य कंधे से कंधे लगकर खिचड़ी का प्रसाद-ग्रहण करते हैं। भक्तों की जाति नहीं होती, यहाँ सभी समान हैं। भक्त जनों के कण्ठों से प्रतिपल आनन्द ध्वनि उठ रही है—जय श्रीगुरु महाराज की जय! जय महामायी की जय! जय स्वामीजी महाराज की जय! हजारों-हजार लोगों के हृदय से निकलकर वह जय ध्वनि गंगा के वक्ष में सिहरन उत्पन्न कर आकाश-वातास को मथ रही है। भक्ति और प्रेम की सुगन्ध से उत्सव का प्राङ्गण आमोदित हो उठा है।

अपराह्न की छाया सघन होने लगी है। सूर्य पश्चिम के आकाश में गिर रहा है। हरी घास के वक्ष पर मन्दिर के चूड़ा की छाया दीर्घतर हो रही है। प्रधान मंडप में भक्तगण एकत्र हो रहे हैं। श्रीरामकृष्ण के जीवन और वाणी का विवेचन हो रहा है। पुराने विद्वान संन्यासीगण व्याख्या कर रहे हैं अवतार के आविर्भाव के तात्पर्य की, अवतार की वाणी के गुरुत्व की, व्यक्तिगत जीवन में उनके आदर्श-पालन की प्रयोजनीयता की तथा अशान्त हृदय में श्रीरामकृष्ण की शिक्षा किस प्रकार शान्ति का सन्धान दे सकती है—इस तथ्य की।

संध्या उतरती है। गंगा के दोनों तटों के असंख्य मंदिरों में शंख-घंटा बज उठते हैं। श्रीमन्दिर में भगवान् श्रीरामकृष्ण की आरती शुरू होती है। सुर-ताल-मान-लय के योग से गंभीर छन्द में गीत गाया जाता है—स्वामीजी रचित श्रीरामकृष्ण वन्दना। विशाल नाट मन्दिर पखावज के गुरु गंभीर ताल और नाद-ध्वनि से कम्पित होता है। मन्द्रित होती हैं महाहुँकार ध्वनि।

आरती के उपरान्त भक्तगण मठ से विदा लेते हैं। तिथि-पूजा का उत्सव समाप्त होता है। हजारों-हजार नर-नारी आध्यात्मिक चेतना से उद्बुद्ध होकर घर लौट रहे हैं आगामी जीवन संग्राम का सामना करने। जो जीवन समस्या कंटकित और विपदसङ्कुल था; अभय के स्पर्श से वह आज दूरीभूत है, मुक्त है। उसने आज जाना है संसार का रहस्य, कर्म का वैज्ञानिक उपाय। उसने सीखा है संसार में ईश्वर-प्राप्ति का उपाय। जिस किसी भी समस्या का मुकाबला करने के लिए वह आज प्रस्तुत है। वह अपने घर में उसके लिए 'दुर्ग' की रचना करेगा। वह जानता है,—'ईश्वर ही एकमात्र वस्तु हैं, और सब अवस्तु है।' एक हाथ से ईश्वर के चरण कमल को पकड़कर, दूसरे हाथ से संसार के कार्य करने चाहिए। एवं कर्तव्य कर्म के समाप्त होने पर दोनों ही हाथों से ईश्वर के चरण को पकड़ लेना चाहिए।'

रात का अंधकार घना हो जाता है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चाँद डूब गया है, रात के पहले प्रहर में। मठ भूमि अभी शान्त समाहित है। जनता का कोलाहल समाप्त हो गया है। मठ अभी तिथि पूजा के द्वितीय पर्याय के लिए प्रस्तुत है। आज की रात्रि महारात्रि है। 'जो राम, जो कृष्ण, वे ही यहाँ रामकृष्ण हैं। वे काली भी हैं। मथुरनाथ विश्वास ने काली रूप में उनका दर्शन किया था। स्वयं श्री सारदा देवी भी उन्हें काली का रूप ही समझती थीं। आज की रात मन्दिर में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति के समक्ष दस महाविद्या की पूजा होगी। पूजा के उपकरण प्रस्तुत हैं। ठाकुर को लाल वस्त्र पहनाया गया है। माथे पर लाल तिलक। गले में रक्तजवा पुष्पों की माला।

दस महाविद्याओं की पूजा के अन्त में, रात्रि के अंतिम प्रहर में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति के सम्मुख प्रज्वलित हो उठा है यज्ञ का होमानल। मन्दिर में इस गंभीर निशीथ में उपस्थित हैं रामकृष्ण संघ के शताधिक संन्यासी। अनुष्ठित होता है परम पवित्र विरजा होम। यज्ञ के आचार्य हैं प्रवीण संन्यासी। नैष्टिक ब्रह्मचारीगण होमाग्नि में अपनी समस्त कामनाओं की आहुति देते हैं। श्रीरामकृष्ण को साक्षी रख गुरु परम्परा से प्राप्त होता है संघ गुरु के पवित्र हाथों के द्वारा संन्यास का काषाय वस्त्र। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' नया जन्म होता है त्यागव्रती नये संन्यासियों का। 'वैराग्य का दीप्त अनल प्रज्वलित होता है शत संन्यासियों के मुख मंडल पर। 'हर-हर बम-बम' के शब्दोच्चार से रात की निःस्तब्धता भग्न होती है। रामकृष्ण संघ के आगामी हजार वर्षों की पद-यात्रा के लिए युक्त होता है नये सैनिकों का एक और दल।

गीता में भक्ति, भक्त और भजन

स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम,
पटना।

श्रीमद्भगवद् गीता का द्वादश अध्याय भक्तियोग के नाम से अभिहित है। किन्तु केवल इसी अध्याय में श्रीकृष्ण के भक्ति-विषयक उपदेश सीमित नहीं हैं। गीता के प्रथम पाँच अध्यायों में एवं सोलहवें तथा सत्रहवें अध्यायों को छोड़कर अन्य सभी अध्यायों के अनेक श्लोकों में भक्ति, भक्त एवं भजन के विषय में अनेक उपदेश हैं। इन समस्त श्लोकों को एक साथ मिलाकर उनका विवेचन करने पर हमलोग भक्ति और उसकी साधना के विषय में गीता के सिद्धान्त को विशेष रूप से समझने में समर्थ हो सकते हैं।

गीता के छठे अध्याय के ३१वें श्लोक में 'भजति' 'भजन करते हैं' इस क्रियापद का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्ववर्ती २९वें और ३०वें श्लोकों में समदर्शन और सभी जीवों में ईश्वर-दर्शन करने का निर्देश है। इस प्रकार के समदर्शी साधक किसी नियम के दास नहीं रहते।

साधक अनेक श्रेणियों के होते हैं; वे सब भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से अनेक प्रकार के उपायों का अवलम्बन कर साधना करते हैं। किन्तु जो अपने मन-प्राणों को ईश्वर में समर्पण कर एकाग्रचित्त से ईश्वर की उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ साधक हैं—छठे अध्याय के ४७वें श्लोक में यह उपदेश दिया गया है।

सातवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में भक्तों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन सब को 'सुकृति' कहा गया है। जो लोग विषय-सुख के भोग को जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं तथा 'ईश्वर हैं'— इस तथ्य में जिनका विश्वास नहीं है, वे विपत्ति पड़ने पर 'हाय-हाय' करने लगते हैं अथवा दूसरे लोगों से सहायता करने की प्रार्थना करते हैं।

जो लोग रोग से आक्रान्त होकर या किसी प्रकार की विपत्ति में पड़कर भगवान को पुकारते हैं, वे आर्त भक्त हैं। धन, मान, विषय-सुख आदि की कामना कर जो लोग ईश्वर की पूजा करते हैं, वे अर्थार्थी भक्त हैं। अर्थार्थी भक्त के साथ ईश्वर का 'लेन-देन' का सम्बन्ध होता है। 'ईश्वर हैं'—इस तथ्य के प्रति जिसके मन में विश्वास उत्पन्न हुआ है, जो जीव, जगत् एवं ईश्वर के स्वरूप को जानने के आग्रही हैं, जो स्वयं अपने साथ ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध को जानने के लिए चिन्तन-मनन करते हैं, वे जिज्ञासु भक्त हैं। और, जिनके मन में किसी कामना-वासना का उदय नहीं होता, जो अपने को देहातीत सत्ता मानते हैं, वे ज्ञानी भक्त हैं। परवर्ती तीन (१७, १८, १९) श्लोकों में ज्ञानी भक्त की प्रशंसा की गयी है। इन तीन श्लोकों में कहे गये ज्ञानी भक्त के लक्षण विशेष रूप से स्मरणीय हैं। वे नित्ययुक्त, एकभक्ति तथा सर्वत्र ईश्वर का दर्शन करनेवाले होते हैं।

वे नित्ययुक्त हैं। साधारण भक्त कभी ईश्वर-चिन्तन करते, फिर कभी विषय-सुख भोग में आकृष्ट हो जाते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्त किसी क्षण ईश्वर-चिन्तन का त्याग नहीं करते। इस प्रकार के भक्त केवल एक अद्वितीय ईश्वर का ही चिन्तन करते हैं। वे जानते हैं कि एक ही ईश्वरीय शक्ति विभिन्न देव-देवियों के रूप में प्रकाशित हैं। उनकी अपनी कोई कामना नहीं रहने के कारण वे उन देव-देवियों के निकट भी किसी वस्तु

लिए प्रार्थना नहीं करते। वे संयतचित भक्त सर्वदा यह अनुभव करते हैं कि एक ही ईश्वर सर्वत्र अनेक नाम और रूप धारण कर प्रकाशित होते हैं।

'वासुदेवः सर्वम्' कहने से वसुदेव के पुत्र मानव श्रीकृष्ण नहीं, बल्कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर लीला के ब्याज से नाना रूप धारणकर समय-समय पर आविर्भूत होते हैं वे ही सर्वत्र विराजमान ईश्वर हैं, यह समझना होगा। किसी अवतार को मनुष्य समझना उचित नहीं है।

सातवें अध्याय के २१, २२ और २३वें श्लोक में कहा गया है—जो भक्त श्रद्धापूर्वक विभिन्न देव-देवियों की पूजा करते हैं, उनकी अर्चना विफल नहीं होती। स्वयं ईश्वर उनलोगों को उनलोगों के द्वारा अनुष्ठित पूजा के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। तब फल-कामना से नाना देव-देवियों की आराधना के तथा ईश्वरोपासना के फल में अन्तर है। सकाम एवं भेददर्शी देवोपासक आराध्य देवता का क्षणस्थायी अनुग्रह-लाभ करते हैं, और निष्काम ईश्वरोपासक ईश्वर के स्वरूप का अनुभव कर धन्य होते हैं।

इसी अध्याय के २८वें श्लोक में कहा गया है कि दीर्घकाल तक निष्काम भाव से सत्कर्मों के अनुष्ठान के परिणामस्वरूप जिनलोगों का चित्त शुद्ध हो गया है, ईश्वर की धारणा में मनोनिवेश करने की बाधाएँ दूर हो गयी हैं, वे लोग सुख-दुःख से अभिभूत नहीं होकर अपने मन-प्राणों से भजन में रत रहते हैं।

अष्टम अध्याय के ५वें और ६ठे श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य अपने सारे जीवन में जिन विषयों का चिन्तन करता है, मृत्यु के पूर्व वे ही सारे चिन्तन उसके मन पर अधिकार कर लेते हैं; उस समय किसी के द्वारा भगवान का नाम लेने के लिए कहने पर भी उस व्यक्ति के द्वारा वैसा करना संभव नहीं होता। जो व्यक्ति अपने जीवन भर ईश्वर चिन्तन करने का अभ्यास करता है केवल उसके लिए ही मरण-काल में अन्तर्यामी परमेश्वर का स्मरण करना संभव होता है।

उक्त कारण से भगवान ने परवर्ती (८/७) श्लोक में कहा—'सदैव मेरा स्मरण करो एवं युद्ध भी करो'। अर्जुन क्षत्रिय हैं। युद्ध कर्म में क्षत्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अनेक विचार और आयोजन के उपरान्त अर्जुन युद्ध के लिए प्रस्तुत हुए हैं। इसी से भगवान उन्हें वर्णाश्रम एवं स्वभाव की दृष्टि से उपयोगी स्वधर्म के आचरण का उपदेश देते हैं। स्वभाव एवं सामर्थ्यानुयायी कर्म निष्कामभाव से नहीं करने पर चित्त की शुद्धि नहीं होती। और चित्त शुद्ध नहीं होने तक सर्वदा ईश्वर के चिन्तन में मनोनिवेश करना संभव नहीं होता। मन-प्राण लगाकर ईश्वर के चिन्तन में निरत रह पाने पर निश्चय ही ईश्वर की प्राप्ति होती है।

श्लोक ८/१० में भगवान ने कहा, किस प्रकार पुकारने पर ईश्वर को सहज रूप से पाया जा सकता है? भक्त को अनन्यचेता होकर ईश्वर-रहित किसी विषय में मन नहीं लगाकर प्रतिदिन ईश्वर का स्मरण करना होगा। तथा भक्त नित्ययुक्त रहेंगे, किसी भी कारण से ईश्वर का चिन्तन करना भूलेंगे नहीं।

श्लोक ८/२२ में कहा गया है कि जगतकारण ईश्वर में समस्त प्राणी अवस्थित हैं और वे (ईश्वर) विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर विराजित हैं। अनन्या भक्ति, कामना-वासना-शून्य एकनिष्ठा भक्ति ईश्वर को प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय है।

९वें अध्याय के १३वें श्लोक में भगवद् भजन के श्रेष्ठ अधिकारी का लक्षण निरूपित किया गया है। महात्मागण, जिनके मन से काम, लोभ आदि मलिनताएँ दूर हो गयी हैं, और जिनके अन्तःकरण में अभय आदि दैवी गुणों का प्रकाश हुआ है, वे ईश्वर जगत् के कारण एवं नित्य हैं—इस तथ्य की दृढ़ धारणा करते हैं और निष्ठापूर्वक उनकी आराधना में रत रहते हैं।

१६वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में दैवी गुणों का उल्लेख है। भक्तिलाभ के फलस्वरूप उत्तम अधिकारी के जीवन में इन सारे गुणों का प्रकाश होता है। शुद्धा

भक्ति चाहने पर इन सब गुणों का अवश्य अनुशीलन करना होगा एवं इन सब गुणों की विरोधी—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध आदि – आसुरी प्रवृत्तियों का वर्जन करना होगा।

९वें अध्याय के १४ और १५वें श्लोक में उत्तम भक्तों के भजन के प्रकारों का वर्णन हुआ है। वे सब नित्ययुक्त, सर्वदा ईश्वर के सान्निध्य का अनुभव करने-वाले होते हैं। उनमें से कोई-कोई नियमित रूप से निष्ठापूर्वक स्तोत्रपाठ एवं मंत्रजप के द्वारा ईश्वर के नाम और गुणों का गान करते हैं। फिर कोई-कोई ईश्वर की अनन्त सामर्थ्य की कथा का स्मरण कर बार-बार उन्हें प्रणाम करते हैं। जिन भक्तों को यह धारणा हो गयी है कि एक ईश्वर ही जीव और जगत् के रूप में प्रकाशित होते हैं, ईश्वर के साथ अभेदभाव का चिन्तन ही उनकी उपासना होती है। फिर ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करनेवाले भक्त 'मैं उनका दास हूँ' इस प्रकार का चिन्तन करते हैं।

९वें अध्याय के २२वें श्लोक में कहा गया है—जो भक्तगण सभी प्रकार की भय-भावना का त्यागकर एकाग्र मन से उपासना में रत रहते हैं, ईश्वर उनके शरीर धारण के लिए उपयोगी अन्न-वस्त्रादि की व्यवस्था करते हैं। इसी तरह भक्तों के नहीं चाहने पर भी ईश्वर उन लोगों को मुक्ति प्रदान करते हैं।

सार्थकरूप से पूजा के अनुष्ठान के लिए पूजक का देह, इन्द्रियादि का संयम एवं मानसिक शुचिता रखने की निश्चयपूर्वक आवश्यकता होती है। पूजा के उप-चारों की बहुलता रहने से ही पूजा नहीं होती। इसी से श्लोक ९/२६ में भगवान ने कहा है—संयतचित्त साधक यदि भक्तिपूर्वक सामान्य उपचारों के द्वारा उनकी पूजा करते हैं तो वे उन सब को ग्रहण करते हैं। इस श्लोक में भगवान की शालग्राम आदि किसी प्रतीक अथवा किसी मूर्त्ति के अवलम्बन के द्वारा साकार उपासना की बात कही गयी है।

श्लोक ९/२७ में कहा गया है—यदि भक्त 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार के देहाभिमान का त्याग-कर ईश्वर के प्रीति-साधन के लिए समस्त कार्य करने के अभ्यस्त हों; यदि वे सभी कर्म अहंकार के वशीभूत हो नहीं कर स्वयं को ईश्वर के द्वारा परिचालित एक यन्त्रमात्र मान कर अपने कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित कर पाएँ तो फिर उनके लिए पूजा के किसी आयोजन की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी से भगवान का निर्देश है – आहार-विहार, दान, यज्ञ, तपस्या आदि देह-इन्द्रिय मन-बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्म उन्हें (ईश्वर को) समर्पित करना होगा। सर्वदा स्मरण-मनन का अभ्यास नहीं रहने पर इस भाव से समस्त कर्म ईश्वर को समर्पित करना संभव नहीं होता।

प्रत्येक कर्म से अच्छा या बुरा फल उत्पन्न होता है। 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकार का मनोभाव लेकर कार्य करने से उस कर्म से उत्पन्न शुभ या अशुभ फल का भोग कर्त्ता को अवश्य ही करना होगा।

भक्त यदि अपनी देह, इन्द्रियादि के द्वारा किये गये कर्म ईश्वर को समर्पित कर पाएँ तो ऐसा होने पर वे कर्म के बन्धन से मुक्त हो जायँगे एवं 'संन्यास योग युक्तात्मा' होकर भगवान की प्राप्ति करेंगे। ईश्वर को समस्त कर्म समर्पण करने को संन्यास कहा गया है, यह एक प्रकार का योग है, ईश्वर में नित्ययुक्त रहने का उपाय है। इस प्रकार की योग-साधना का संकेत श्लोक ९/२८ में पाया जाता है।

भगवान क्या केवल भक्त को प्रेम करते हैं और अभक्त की अवज्ञा करते हैं? क्या वे समदर्शी नहीं हैं? इस प्रकार की आशंका का समाधान श्लोक ९/२९ में किया गया है। जो व्यक्ति आन्तरिकता के साथ भजन करता है वह भक्त ईश्वर के सान्निध्य का अनुभव करता है। ईश्वर उसके निकट अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। जैसे, जाड़े की रात में जलती हुई आग के निकट जाने पर अन्धकार से उत्पन्न भय एवं ठंढ का कष्ट दूर हो जाता है।

९वें अध्याय के ३० एवं ३१वें श्लोक में भक्ति का

[illegible] गया है। कोई भी व्यक्ति यदि अनेक असत् कर्म करता है, तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए विभिन्न देव-देवियों की उपासना करता है, किन्तु सौभाग्यवश यदि उसमें यह विश्वास उत्पन्न हो जाय कि एक परमेश्वर ही नाना देवताओं के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं, अतएव एकमात्र उनका आश्रय ग्रहण करना ही उचित है, तो उस व्यक्ति को उत्तम व्यक्ति मानना होगा। 'एकमात्र परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही मैं कृतार्थ होऊँगा,' इस प्रकार के अध्यवसाय के अवलम्बन के फलस्वरूप वह फिर दुराचारी नहीं रहता, बल्कि साधु हो जाता है। निष्ठापूर्वक भजन के फलस्वरूप उसके मन से असत् कर्मों की प्रवृत्ति चली जाती है और वह मानसिक शान्ति प्राप्त करता है। ईश्वर भक्त की कभी अधोगति नहीं होती।

इसी अध्याय के ३१वें श्लोक में कहा गया है—ईश्वर की उपासना तथा उनकी शरण ग्रहण करने का अधिकार सभी मनुष्यों को है। भक्ति-साधना में स्त्री-पुरुष, उम्र, जाति, कुल अथवा पेशा का कोई भेद नहीं है। ३३वें श्लोक का कथन है कि यह जगत् और जीवन चिरस्थायी है तथा विषयसुख के भोग में जीवन की सार्थकता है—इस प्रकार की धारणा के वशीभूत साधारण मनुष्य विषय-सुख की खोज में व्यस्त रहता है। किन्तु, जगत् चिरस्थायी नहीं है। विषयभोग का परिणाम भी दुःखदायक है। ईश्वर की शरणागत होकर जीवन यापन कर पाने से ही जीवन सार्थक होता है।

९वें अध्याय के अंतिम श्लोक में, जिस प्रकार की आराधना करने से भगवान लाभ होता है, भक्तियोग की उन्हीं साधनाओं के बारे में कहा गया है। भगवान ने अर्जुन को उपलक्ष्यकर सभी मनुष्यों को उनकी शरणागत होने के लिए आह्वान किया है। उन्होंने कहा है—यदि मुझे चाहते हो तो अपने चंचल मन को मुझमें एकाग्र करो, मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा और मुझे प्रणाम करो।

१०वें अध्याय के ८ से ११वें तक के श्लोकों का तात्पर्य यह है कि विश्व ब्रह्माण्ड के चर-अचर सभी जीवों और जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है, बुद्धि, ज्ञान आदि सभी मानसिक प्रवृत्तियाँ (१०/४-५) ईश्वर की इच्छा से प्रवर्तित होती हैं,—विचारशील लोग यही धारणा करते हैं तथा प्रीतिपूर्वक भजन में रत होते हैं। वे मन-प्राण लगाकर, देह-इन्द्रियों की समस्त चेष्टाओं को ईश्वराभिमुखी कर, ईश्वर के स्वरूप, लीला और गुणों के विषय में आपस में विवेचनकर तृप्ति और आनन्द प्राप्त करते हैं। जो विवेकी भक्तगण इस प्रकार से ईश्वर-चिन्तन एवं प्रीति सहित भजन में रत रहते हैं, ईश्वर की इच्छा से उनके हृदय में भगवत् प्राप्ति के साधनरूप बुद्धि का उदय होता है। ईश्वर कृपाकर उनके हृदय में प्रकट होकर उनके आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक अज्ञान को नष्ट कर देते हैं। देहाभिमानरूपी अज्ञान के नाश के परिणामस्वरूप वे सब ईश्वर के साथ नित्ययुक्त रहने में समर्थ होते हैं।

११वें अध्याय के ८वें श्लोक में कहा गया है कि साधारण चक्षु से ईश्वर का दर्शन संभव नहीं है। आँखों से हमलोग विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों की भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखते हैं। ईश्वर ही अनेक रूपों में प्रकाशित हो रहे हैं, यह हमलोगों को बोधगम्य नहीं होता। ऐसा देखने के लिए ज्ञान-चक्षु की आवश्यकता है।

श्रीभगवान ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया। दिखाया कि ईश्वर ही विश्वव्यापी होकर नाना रूपों में विराजमान हैं; वे ही सभी कर्मों के कर्त्ता हैं। उन्होंने सिखाया कि मनुष्य अहंकार के वशीभूत होकर अपने को कर्त्ता मानता है। वेद-पाठ, तपस्या, दान अथवा यज्ञानुष्ठान के द्वारा ईश्वर का सर्वत्र दर्शन संभव नहीं है। एकनिष्ठा भक्ति ही इस ईश्वर-दर्शन का एकमात्र उपाय है। इस प्रकार की भक्ति की प्राप्ति होने पर, ईश्वर के स्वरूप से अवगत होने पर, ईश्वर का सभी अवस्थाओं में सर्वत्र दर्शन करने एवं अपना पृथक् व्यक्तित्व भूलकर ईश्वर के साथ अभेद भाव की उपलब्धि करने में भक्त समर्थ होता है।

ईश्वर-प्राप्ति का उपाय यह है कि साधक को अहंकार रहित होकर ईश्वर की प्रीति-साधन के लिए समस्त

कार्य करने होंगे। भगवान की प्राप्ति करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—यह धारणा स्थिर करनी होगी। एकमात्र ईश्वर का आश्रय लेना होगा और किसी व्यक्ति या विषय के प्रति आकर्षण एवं किसी भी प्राणी से भय या विरोध नहीं रहेगा। ११वें अध्याय के अंतिम तीन श्लोकों में ये बातें कही गयी हैं।

गीता के १३वें अध्याय के ७वें से ११वें तक ५ श्लोकों में अमानित्व, अदम्भित्व आदि ज्ञान के २० साधनों का उल्लेख करने के बाद इन सब के विपरीत मान, दम्भ आदि अवगुणों को अज्ञान अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न कहा गया है। उक्त ज्ञान के साधनों में 'सर्वत्र ईश्वर दृष्टि के अवलम्बन से ईश्वर के प्रति एक निष्ठा भक्ति' को भी ज्ञान के एक साधन के रूप में गिना गया है। साधारण मनुष्य अज्ञान में रहता है। संसार में अनेक वस्तुओं का दर्शन करना उसके लिए स्वाभाविक है। किन्तु, एक परमेश्वर ही जीव-जगत् के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं, इस प्रकार की दृढ़ धारणा के साथ उनके प्रति भक्ति सम्पन्न हो पाने पर उस प्रकार की भक्ति अद्वय ब्रह्मज्ञान का अन्यतम साधन हो जाती है। इस प्रकार की भक्ति उत्पन्न होने पर भेद-भ्रम तिरोहित हो जाता है।

१३वें अध्याय के १७ श्लोकों तक जगत् और जीव का लक्षण, ज्ञान का साधन एवं ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप बताने पर १८वें श्लोक में भगवान ने कहा—जो भक्त इन तत्त्वों की अवधारणा में समर्थ होते हैं वे अपनी ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करने में समर्थ होते हैं।

गीता के १४वें अध्याय का नाम है 'गुणत्रय-विभाग योग।' इस अध्याय में प्रकृति के परिणाम से सत्व, रज: और तम: गुण से जगत् की उत्पत्ति का विषय वर्णित हुआ है। इन तीन गुणों के समवाय से जीव की देह की उत्पत्ति होती है। मनुष्य स्वरूपत: चैतन्यस्वरूप होने पर भी तीन गुणों के प्रभाव से अपने को बद्ध मानता है। आसक्ति और विद्वेष के द्वारा अभिभूत होता है और सुख-दु:ख का भोग करता है। जो मनुष्य यह समझ पाता है कि गुणों के द्वारा समस्त कर्म अनुष्ठित होते हैं, जो अपने को चैतन्य स्वरूप एवं देह और इन्द्रियों के द्वारा किये गये कर्मों का साक्षी मात्र मानता है, वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। इन तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त होने पर मनुष्य देह के जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि से उत्पन्न दु:खों का भोग नहीं करता, बल्कि परमानन्द के अनुभव में वह समर्थ होता है।

आलोच्य अध्याय के २२ से २६ तक के पाँच श्लोकों में गुणातीत होने की साधनाएँ बतायी गयी हैं। २६वें श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति एकनिष्ठा भक्ति के अवलम्बन के द्वारा ईश्वर की उपासना करता है, वह अपनी ब्रह्मस्वरूपता की उपलब्धि करने में समर्थ होता है।

गीता के १५वें अध्याय में जगत्, जीव एवं ईश्वर तत्त्व का वर्णन हुआ है। ईश्वर यहाँ पुरुषोत्तम के नाम से अभिहित किये गये हैं। पुरुषोत्तम प्रकृति तथा जीव और जगत् के नियन्ता हैं। जो व्यक्ति मोहमुक्त है, जिसने अपने को चेतन जीव मानकर स्थिर किया है, शीत-उष्ण, सुख-दु:ख द्वारा जो अभिभूत नहीं होता, वह मन-प्राणों से पुरुषोत्तम की उपासना करता है; वह जीव जगत् और ईश्वर के स्वरूप की अवधारणा करने में समर्थ होता है।

गीता के १८वें अध्याय के ५२ से ५५ तक के चार श्लोकों में पराभक्ति लाभ के साधनों का वर्णन हुआ है। इन सब में प्रथम और प्रधान होती है बुद्धि। अध्याय १७ के १६वें श्लोक में कथित मानसिक तपस्या के फल से बुद्धि शुद्ध होती है। पराभक्ति प्राप्ति के अन्यान्य साधन हैं—धैर्य, अनासक्ति, आसक्ति और विद्वेष का त्याग, लघु आहार, देह वाक्य और मन का संयम, ध्यान परायणता, वैराग्य, अहंकार, अनुचित बल प्रयोग, काम, क्रोध और प्रतिग्रह का त्याग। इन साधनाओं के फल स्वरूप साधक ममता-रहित और शान्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने की योग्यता प्राप्त करता है।

१८वें अध्याय के ५४-५५वें श्लोक में कहा गया है—उक्त प्रकार की योग्यता से सम्पन्न साधक अपने को

देहातीत शुद्ध चैतन्य आत्मा के रूप में अनुभव करने के फलस्वरूप सभी अवस्थाओं में शान्त रहते हैं, किसी वस्तु के नष्ट होने पर परिताप अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की कामना नहीं करते। वे सभी प्राणियों के प्रति समदर्शी होते हैं एवं पराभक्ति की प्राप्ति करते हैं, ईश्वर के साथ नित्ययुक्त रहते हैं। पराभक्ति की प्राप्ति के फलस्वरूप साधक सच्चिदानन्द घन ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करते हैं एवं परमानन्द स्वरूप हो जाते हैं।

१८वें अध्याय के ६१-६२वें श्लोक में कहा गया है,—विचारपूर्वक सारे कर्म ईश्वर को समर्पित कर भगवान की प्राप्ति करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, इस प्रकार की दृढ़ धारणा के अवलम्बन के द्वारा जीवन व्यतीत करना होगा, "ईश्वर सभी कर्मों के कर्त्ता हैं, उनके द्वारा परिचालित होकर जीव कर्म करता है, 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, कर्म के फल में भी मेरा अधिकार नहीं है,' इस प्रकार की अचंचल विचार-बुद्धि के अवलम्बन के द्वारा सभी अवस्थाओं में ईश्वर के चिन्तन में रत रहना होगा।

इन्हीं श्लोकों में पुनः कहा गया है—जीव अज्ञानवश अपने को कर्त्ता मानता है, किन्तु यथार्थतः ईश्वर ही सभी कर्मों के कर्त्ता हैं, वे ही अन्तर्यामी के रूप में जीव के हृदय में विराजमान रहकर अपनी शक्ति के द्वारा सभी कार्य कराते हैं; यही शक्ति जीव के अहंकार के रूप में प्रकट होती है। अतएव, अहंकार का त्यागकर हर प्रकार से ईश्वर की शरण लेनी होगी। अहंकार का त्याग कर उनकी शरणागत होने पर ईश्वर की प्राप्ति और शाश्वत शान्ति उपलब्ध होगी।

ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है शरणागति, ईश्वर के ऊपर सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण। किन्तु मनुष्य जब तक यह समझता है कि 'मैं स्वयं सुखी हो पाऊँगा और अपने दुःखों का निवारण कर पाऊँगा, मैं अपने कार्यों के द्वारा पुण्य अर्जन एवं पाप कर्मों के फलभोग से त्राण पाने में समर्थ हूँ तब तक ईश्वर के ऊपर उसकी निर्भरता नहीं आती। ईश्वर की इच्छा के ऊपर आत्मसमर्पण कर पाने से मनुष्य की और कोई भावना शेष नहीं रहती। १८वें अध्याय के ६४वें श्लोक में भगवान ने अर्जुन को उपलक्ष्य कर समस्त मानव प्राणियों को यही उपदेश दिया।

●

हिन्दू मन्दिर-एक विहंगावलोकन (२)

—स्वामी हर्षानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
इलाहाबाद।

विग्रह और मूर्तिशिल्प

गर्भ मंदिर में स्थापित मूल विग्रह सारे मंदिर में सब से मुख्य वस्तु है। इसको और मंदिर के अन्य सब विग्रहों को मूर्तिशिल्प शास्त्र के अनुसार ही बनाया जाता है। यह शास्त्र जितना प्राचीन है उतना ही कठिन भी।

विग्रहों का वर्गीकरण अनेक विधियों से होता है। देवताओं के अनुसार हो तो शैव, शाक्त, वैष्णव; चाल की दृष्टि से चल, अचल और चलाचल; अंगविन्यास की दृष्टि से स्थानक (खड़ा हुआ), आसन (बैठा हुआ) और शयन (लेटा हुआ)।

अचल मूर्तियाँ अधिकांश पत्थर से बनी हुई होती हैं। उत्सव मूर्तियाँ धातु से निर्मित होती हैं। जिन मूर्तियों को रथ में उत्सव के दिनों में ले जाते हैं उनको उत्सव मूर्ति कहते हैं। जिस मन्दिर में मूल-विग्रह और उत्सव-विग्रह एक ही हैं—उसको चलाचल कहते हैं—

इसका एकमात्र दृष्टांत पुरी क्षेत्र का जगन्नाथ मंदिर है। यहाँ सुप्रसिद्ध रथयात्रा में मूल विग्रहों को ही रथ पर चढ़ा कर ले जाते हैं।

विग्रहों को 'तालमान पद्धति' के आधार पर बनाते हैं। प्रथा यह है कि हरेक व्यक्ति का चेहरा उसकी हथेली जितनी लम्बी है उतना ही लम्बा होता है। इस माप को 'ताल' कहते हैं। 'ताल' के बारह समभागों को 'अंगुल 'कहते हैं। विग्रह के प्रत्येक अंग का मापन 'ताल' में और 'अंगुल' में शास्त्रों में दिया हुआ है। साधारणतः देवविग्रह का निर्माण 'नवताल' में होता है, अर्थात् विग्रह की ऊँचाई उसकी हथेली की लम्बाई की नौगुनी होती है। विग्रह निर्माण में तालमान पद्धति का दृढ़ता-पूर्वक अनुसरण करने के बाद भी शिल्पियों को अपना कौशल दिखाने का यथेष्ट अवसर होता है।

प्रतिष्ठा विधि

अच्छे देवमंदिर का निर्माण समाप्त हो गया। अब विग्रह का प्रतिष्ठापन कैसे होता है? पूजादि धार्मिक क्रिया कैसे होती है? इसे देखें।

प्रतिष्ठापन विधि एक विस्तृत और जटिल कार्य है। पूजा-होमादि कर्मों के लिए एक तात्कालिक बड़ी पर्णशाला निर्मित होनी चाहिए। प्रारम्भ में वास्तुपुरुष की पूजा, उपदेवता की शांति और उनके लिए वलियाँ, कलशस्थापन, विविध कुंडों में विविध प्रकार के हवन आदि कर्मों को करना पड़ेगा। इसके बीच में ही मूलमूर्ति का 'अक्षि-मोचन' करना आवश्यक है। विग्रह की अक्षि या आँखों को छेनी से काटकर खोलना, दृष्टि देना—इसको 'अक्षि-मोचन' अथवा 'नेत्रोन्मीलन' कहते हैं। इसके बाद विग्रह को रथ में ले जा कर नजदीक में स्थित किसी नदी या तालाब में डुबाकर रखना चाहिए। इस कर्म का नाम 'जलाधिवास' है। उसके बाद विग्रह को जल से निकाल कर, पर्णशाला में लाकर, फैले हुए धान पर लेटाते हैं। यह है 'धान्याधिवास'। अनंतर होगा 'शय्याधिवास'। विग्रह को बिछावन पर रखना। इन तीनों अधिवासों से विग्रह परिशुद्ध होकर प्रतिष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है।

अब होगा 'अष्टबंध'। पहले शंख, सफेद पत्थर, लाह, इत्र इत्यादि आठ वस्तुओं को अत्यन्त चूर्ण करके मक्खन या तेल में मिलाकर लोंदा बनाकर तथा गर्भ मंदिर के केन्द्र में आधारपीठ के ऊपर सोने के पत्तर के यंत्र पर अष्टवस्तु चूर्ण का लोंदा रखकर देवविग्रह का उस पर प्रतिष्ठापन करना चाहिए। यही 'अष्टबन्ध' नामक कर्म है।

इसके पश्चात् 'नाड़ी संधान' किया जाता है। एक लम्बा तागा लेकर उससे यज्ञशाला के प्रधान हवन-कुंड को लपेट कर, दूसरे छोर से विग्रह लपेटना। इस कर्म से विग्रह के अन्दर की सूक्ष्म नाड़ियाँ खुल जाती है। बाद में होगी 'प्राण प्रतिष्ठा', उचित मन्त्रों से देवता के प्राण या चैतन्य को विग्रह में आकर्षित करना। इसके पश्चात् यज्ञशाला से मुख्य कलश को गर्भमंदिर में लाकर उसके जल से विग्रह को स्नान कराया जाता है। इसको कुंभाभिषेक कहते हैं। अभिषेक के बाद विशेष पूजा, नैवेद्य और मंगल आरती होती है।

इन सब कर्मों को पूरा करने से यजमान, आचार्य और स्थपति धन्य होते हैं। वे अब 'अवभृथ स्नान' करके अन्नदान, दक्षिणा दान देकर प्रसाद स्वीकार करते हैं।

नित्य पूजा

प्रतिष्ठा हो गयी। अब नित्य पूजा कैसे होगी? कितनी बार होगी? छोटे मंदिर में रोज एक बार पूजा होती है। बड़े मंदिर में नौ बार पूजा होती है। प्रत्येक पूजा के समय विग्रह से वस्त्र आभरण आदि हटाकर अभिषेक करना। धूप, दीप, नैवेद्य निवेदित करना। अन्त में महामंगल आरती और तीन बार बलिप्रदान। इस समय पारिवारिक देवताओं की पूजाएँ भी अनुष्ठित होती हैं।

नैमित्तिक पूजा

विशेष संदर्भों में और विशेष दिनों में 'नैमित्तिक पूजा' की जाती है। यह विभिन्न देवालय, देवता और तीर्थ क्षेत्र का अपना संबद्ध विषय है। भिन्न-भिन्न मंदिरों में विशेष दिनों में या विशेष अवसर पर यह पूजा

की जाती है। इस समय मूलविग्रह की तरह उत्सव विग्रह का भी अलंकरण होता है।

ब्रह्मोत्सव

यहाँ 'ब्रह्मोत्सव' की भी विवेचना करना उचित होगा। ब्रह्मोत्सव-शब्द का अर्थ है 'सबसे बड़ा उत्सव'। किसी देवस्थान में जितने भी उत्सव होते हैं उनमें सबसे बड़ा उत्सव ही 'ब्रह्मोत्सव' है। रथोत्सव इसका अंग है। ब्रह्मोत्सव समाप्ति के दो दिन पहले रथोत्सव आचरित होता है।

रथ और रथोत्सव

रथ देवमंदिर का चल प्रतीक है। रथोत्सव का उद्देश्य क्या है? तुम अपने व्यवहार में व्यस्त होकर ईश्वर दर्शन के लिए मंदिर नहीं जा सकते। अच्छा। वही कृपा कर तुम्हारे घर आकर दर्शन देंगे। रथ-यात्रा के समय सुसज्जित और अलंकृत रथ को खींचने में सब उत्साह दिखाते हैं। इस पवित्र कार्य में छुआ-छूत एवं भेद-भाव मना है।

जिन मंदिरों के नजदीक जलाशय है वहाँ नाव में उत्सवमूर्ति को बैठाकर शोभा-यात्रा भी होती है।

अन्नदाता

शत-शत वर्षों से हिंदू मंदिर हजारों लोगों को जीविका प्रदान करते आ रहे हैं। गायक, नर्तक, माली, लुहार, शिल्पी, मूर्तिकार रसोइया. दर्जी, इत्रफरोश, ज्योतिषी, बढ़ई, वैदिक ब्राह्मण, इन सभी को देवालय उदारतापूर्वक जीविका प्रदान करता है।

भक्तों का कर्तव्य

अक्सर हमलोग भगवान के दर्शन के लिए मंदिरों में जाते हैं। वहाँ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए? इस विषय में कुछ जान लेना उचित होगा। जब हम अधिकारियों, विद्वानों, बुजुर्गों अथवा संत-महात्माओं को देखने जाते हैं, तब हम उनके साथ मर्यादापूर्वक आचार-व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार मंदिर में भी हमें व्यवहार करना होगा। मंदिर में पैदल चलना चाहिए, वाहन से नहीं। मंदिर के प्रांगण में या समीपस्थ नदी या तालाब में स्नान करके धुले हुए कपड़े पहन कर दर्शन के लिए जाना चाहिए। मौन होकर ध्वजस्तंभ के पास नमस्कार करके बायीं ओर से गर्भमंदिर में जाकर भगवान का दर्शन करना उचित है। इस समय हमें वैयक्तिक पूजा भी करानी चाहिए। बाद में ३, ५ या ७ बार प्रदक्षिणा करके बाहर आकर ध्वजस्तंभ से देवता को प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करते समय ध्यान रहे कि हमारे पैर किसी पारिवारिक देवता की ओर न हो। अनंतर ईशान्य (उत्तर-पूर्व) दिशा में एकांत स्थान में बैठकर जप-ध्यान करना आवश्यक है।

दैवापचार

विधिपूर्वक प्रतिष्ठापन के बाद मंदिर में, विशेषतः मूर्ति में, देवता की 'कला' या 'शक्ति', स्थित रहती है। इसलिए देवता को असंतुष्ट करने वाले कामों को नहीं करना चाहिए। इनको दैवापचार कहते हैं। यथा—अशौच या सूतक अवस्था में मंदिर जाना, मंदिर के अन्दर हल्ला करना, नैवेद्य के लिए उत्तम वस्तुओं को न प्रदान करना, निवेदित प्रसाद का अनादर करना या उसे श्रद्धाहीन लोगों को देना, मंदिर के प्रांगण में जातिभेद करना, प्रापंचिक व्यवहार में व्यस्त होना, देवस्थान की जायदाद का दुरुपयोग करना— ये सब दैवापचार हैं और इनसे देवता की नाराजगी होती है।

पुरोहित के कर्तव्य

अगर भक्तों के लिए इतने नियम हैं तो पुरोहित के लिए भी होंगे न? बिल्कुल हैं! परिशुद्ध नियमबद्ध जीवन, आगमशास्त्र में पाण्डित्य, पूजादि कर्मों का प्रायोगिक ज्ञान— ये आवश्यक गुण एक पुरोहित में रहने चाहिए। उसे सब कर्मों को श्रद्धा और भक्ति से करना पड़ेगा। भक्त लोगों को प्यार करना और उनके लिए व्याकुलता दिखाना भी उसके लिए आवश्यक है।

देवमंदिरों से हिन्दू समाज को क्या लाभ हुआ?

हमारे हिन्दू समाज को इन देवालयों से बहुत बड़ा

योगदान मिला है। देवालयों ने हमारे धर्म तथा संस्कृति-रूपी दीप को ज्वलंत रखा है और हिन्दू समाज में ऐक्य लाने के लिए प्रयत्न किया है। हजारों लोगों को जीवनोपाय दिये हैं। युद्ध, अकाल आदि आपातकालों में रक्षा और सहायता दी है। संगीत, नृत्य, नाटक आदि कलाओं का संरक्षण किया है। वैदिक और अन्य शास्त्रों का ज्ञान बचाने के लिए, वृद्धि और फैलाने के लिए बहुत परिश्रम किया है। पुराने उल्लेख भी हैं जिनके अनुसार देवालयों के आश्रय में अस्पताल भी चलाये जाते थे। समाज के लोगों में झगड़ा-विवाद फसाद होने पर मंदिरों से न्यायालय की तरह निर्णय दिये गये हैं।

ऐसे देवमंदिरों को आज हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में और भी सत्वशाली महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। इसकी जिम्मेदारी हिन्दू समाज पर है।

उपसंहार

अब मंदिरों के पुनर्जागरण के लिए कुछ सलाह दी जाती है—

१. अखिल भारतीय स्तर की एक 'हिन्दू मंदिर निधि' बनानी चाहिए जिससे पुराने मंदिरों की मरम्मत और नूतन मंदिरों के निर्माण के लिए इस निधि से मदद दी जा सके। भक्तगण और संपन्न देवालय इस निधि को दान दें।

२. पुरोहितों को प्रशिक्षण देने के लिए विशेष विद्यालय खोले जायँ। इन विद्यालयों में छात्रों के लिए आहार, आवास, वस्त्र, पुस्तक आदि की निःशुल्क व्यवस्था रहे। इसके साथ-साथ विद्यार्थियों को छात्र-वेतन भी देना अच्छा होगा। इन विद्यालयों में विद्वान अध्यापकों की नियुक्ति हो। इन विद्यालयों से शिक्षित स्नातकों को ही मंदिर में पुजारी नियुक्त करना चाहिए। इन पुजारियों को महाविद्यालय के अध्यापकों की तरह वेतन आदि देना उचित होगा।

३. देवालयों के प्रशासक मंडल को स्थानीय भक्तों से एक स्वयं-सेवक दल बनाकर उसके द्वारा बहु विध उपयुक्त काम कराना चाहिए यथा—मंदिर और उसके प्रांगण को साफ कराना, भगवद् दर्शन के लिए आनेवाले भक्तों में नियमबद्ध व्यवस्था रखना, उत्सव के समय में मदद देना जिससे उसका आयोजन सुगमता से हो, मंदिर की संपत्ति का रक्षण करना आदि।

४. देवस्थानों की ओर से अन्य धार्मिक कार्यक्रम भी चलाना चाहिए। जैसे—हिन्दू धर्म के बारे में शिक्षण देना, सस्ते दाम में धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन और बिक्री, धार्मिक प्रवचन, भजन एवं नाटकों का प्रबंध आदि।

५. बृहत् देवमंदिरों के प्रांगण में धार्मिक वस्तु संग्रहालय का स्थापन करना अच्छा होगा। उनकी तरफ से विद्या, वैद्यकीय और अन्य उपयुक्त संस्थाओं की स्थापना भी उचित होगी।

६. हर एक हिन्दू व्यक्ति को अपने वैयक्तिक तथा कुटुम्ब जीवन में देवमंदिरों से संबंध अवश्य बनाना चाहिए। इसके लिए कुछ नियमों की रचना करनी होगी। यथा—उपनयन विवाहादि समारोह संभव होने पर मंदिर में ही करना, यदि मंदिर में स्थानाभाव से ऐसा करना संभव न हो तो उक्त अवसरों पर विशेष पूजा का आयोजन मंदिर में अवश्य करना चाहिए। मंदिर के प्रधान उत्सवों में योगदान अवश्य देना, अपने कुल के कल्याण के लिए साल में कम-से-कम एक बार विशेष पूजा की व्यवस्था करना आदि।

अगर हिन्दू भक्त लोग, जिनमें बुद्धिमान और श्रद्धालु जन बहुत बड़ी संख्या में हैं, कटिबद्ध होकर मंदिरों के लिए काम करेंगे तो मंदिर भी हमारे समाज की सर्वतोमुख अभिवृद्धि में सहायक होंगे।

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) जीवन-कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्णमठ, नागपुर

आरती हो जाने के बाद ठाकुर ने लालटू को वहीं प्रसाद लेने को कहा। बिहार प्रदेश की आचारनिष्ठा के प्रबल संस्कारवश काली मन्दिर का प्रसाद लेने में उन्हें हिचकिचाहट हुई थी। उसी बात को समझकर अन्तर्यामी ठाकुर ने कहा था—"अरे! यहां तो मां काली का आमिष भोग होता है और विष्णु मन्दिर में निरामिष भोग होता है—सब कुछ गंगाजल में पकता है, तुझे किसका प्रसाद लेने को कहूं, वैसे प्रसाद में कोई दोष नहीं है।" निरक्षर लालटू को इतना सब समझ में नहीं आया, उसने कहा—"आप जो पायेंगे, मैं भी वही खा लूंगा। मैं तो आपका प्रसाद पाऊंगा—बाकी कुछ भी न लूंगा।

सरलचित्त बालक को अपने प्रसाद का आकांक्षी देखकर ठाकुर ने हंसते हुए रामलाल दादा को कहा—"देखा न यह दुष्ट कैसा चालाक है। मैं जो पाऊंगा यह दुष्ट उसी में हिस्सा बंटाना चाहता है।"

दोपहर में परमहंसदेव ने भूख से आकुल लालटू को निकट बैठाकर अपने भोजन में से उठाकर थोड़ा-थोड़ा दे दिया। बालक आनन्दपूर्वक उसे खाकर तृप्त और धन्य हुआ।

एक-एक कर भक्तगण वहां उपस्थित हुए। उनके साथ ठाकुर की विविध विषयों पर चर्चा होने लगी। संध्या होने को थी, ठाकुर उसकी ओर देखते हुए बोले—"कलकत्ते नहीं जायगा क्या रे, सारा समय यहीं जो बिता दिया?" फिर पूछा—"पैसे तो हैं न, कैसे जायगा?" मुख से कुछ भी न बोल बालक ने अपनी जेब खनखना कर उसमें रखे पैसे बजा दिये। ठाकुर सिर्फ हंसकर रह गये, कुछ कहा नहीं।

द्वितीय दर्शन के पश्चात् लालटू के लिए मालिक के घर के कार्य कर पाना असम्भव हो उठा। परिवार के किसी के कोई काम बताने पर लालटू ऐसी भाव-भंगिमा दिखाता मानो वह उन कार्यों को नहीं करना चाहता, उसमें उसकी अरुचि है; पर वास्तव में वह घर के सारे कार्य कर लिया करता। बालक का ऐसा रंग-ढंग देखकर मालिक रामचन्द्र थोड़े चिन्तित हुए। गृहस्वामिनी लालटू का ऐसा उत्साहहीन व्यवहार देखकर थोड़ी खिन्न हुईं, पर कुछ कहा नहीं।

भक्त रामचन्द्र ने एक दिन परमहंसदेव के पास जाकर लालटू की तत्कालीन कर्मविमुखता की बात कह सुनायी। इस पर वे बोले—"अजी, ऐसा हुआ करता है। यहां आने के लिए उसका कितना मन करता है! एक दिन उसे भेज देना।"

परमहंसदेव के निर्देनुशासार इसके अगले दिन ही रामबाबू ने लालटू को दक्षिणेश्वर भेज दिया। ठाकुर के पास से बालक को जो कुछ मिला था वह हमने कविराज महाशय से सुना। कविराज महाशय उसी दिन दक्षिणेश्वर को गये थे तथा ठाकुर को वायु परिवर्तन के लिए कामारपुकुर जाने का परामर्श दिया था।

* ये बातें हमने रामलाल दादा के मुख से सुनी हैं।

"देखना भाई! यहाँ आने के लिये कहीं मालिक के काम में अवहेलना न करना। राम तेरा आश्रयदाता है, तुझे खाने को देता है, पहनने को देता है, तेरी सभी आवश्यकताएँ पूरी करता है, तू यदि उसका काम नहीं करेगा तो नमकहरामी होगी। खबरदार, अकृतज्ञ न होना।"

श्रीरामकृष्ण का ऐसा अस्पष्ट उपदेश सुनकर बालक रो पड़ा। वह ठाकुर के समक्ष अपना दुःख व्यक्त करते हुए बोला—"मैं तो, आपके यहाँ ही रहूँगा। और नौकरी न करूँगा। मैं आपके काम करूँगा।" बालक की बात सुनकर ठाकुर ने कहा था—तू यहाँ रहेगा और राम का घर कौन देखेगा? राम का घर तो मेरा ही घर है। तू उसी संसार (घर) में रह।"

इस पर भी बालक समझ न सका बल्कि यह कहना उचित होगा कि समझने का इच्छुक न था। वह रुआँसी आवाज में कह उठा—"मैं अब वहाँ न जाऊँगा। मैं यहीं रहूँगा।"

ठाकुर भी हँसते हुए बोले—"अरे मैं भी तो यहाँ नहीं रहूँगा।" फिर कविराज महाशय की ओर मुड़कर बोले—'ये लोग ही तो मुझे गाँव जाने को कह रहे हैं।"

इस बात के ऊपर लालटू और क्या कह सकता था? लालटू मौन रहा। ठाकुर आश्वासन देते हुए बोले—'गाँव से लौट आऊँ, फिर यहाँ आना, ठीक है न?"

लालटू जितनी अधिक आशा के साथ दक्षिणेश्वर को गया था, उतनी ही निराशा के साथ सिमला में मालिक के घर लौटा। परन्तु इस बार वह एक अमूल्य उपदेश सुनकर लौटा था। ठाकुर किसी भक्त को कह रहे थे—"सभी कार्य करना, परन्तु मन ईश्वर में रखना पत्नी, पुत्र, माता, पिता सभी के साथ रहना और सेवा करना। मानो वे कितने प्रिय हैं। परन्तु मन-ही-मन जानना कि वे लोग तुम्हारे कोई नहीं हैं। बड़े घर की दासी सभी कार्य करती है, परन्तु मन उसका लगा रहता है अपने गाँव के घर की ओर। फिर वह मालिक के बच्चों को अपने ही बच्चों के समान पालन करती है। कहती है—'मेरा राम' 'मेरा हरि'। परन्तु मन ही मन अच्छी तरह जानती है कि ये लोग मेरे कोई भी नहीं हैं।"

इस उपदेश से लालटू को थोड़ी शान्ति मिली, यह बात हमने काफी दिनों बाद उन्हीं के मुख से सुनी थी। उस समय उन्होंने कहा था—"देखो···। उनकी कितनी कृपा है। वे गाँव जाने के पहले मेरे को कितनी सुन्दर बात सुना गये। मुझे बता गये कि मालिक के संसार में किस प्रकार रहना चाहिए। पर मेरे मन का दुःख भला कैसे जाता?"

इसी भाँति कुछ दिन बीते। ठाकुर दक्षिणेश्वर छोड़कर अपने गाँव को गये। भक्त रामचन्द्र दत्त की गृहस्थी में रहकर लालटू अपना दुःख स्वयं ही भोगने लगा। उन दिनों प्रति क्षण वह ठाकुर के निर्देशानुसार चलने का प्रयास किया करता था। यद्यपि परमहंसदेव ने प्रत्यक्ष रूप से उन्हें कोई उपदेश न दिया था। परमहंसदेव के उपदेशों को उन्होंने स्वयं जैसा समझा था, उसी में श्रद्धावान होकर वे स्वयं ही चल रहे थे।

और चल रहे थे इसी कारण वे उपदेशों को जीवन्त कर सके थे। आम लोगों की भाँति वे उपदेशों या कथाओं का गूढ़ अर्थ निकालने का प्रयास न करते थे; वरन् वे उपदेशों का पालन करते थे, उन्हें जीवन में रूपायित करते थे तथा उसके प्रत्यक्ष फल का उपभोग कर उसमें निहित गूढ़ मर्म को प्रत्यक्ष कर लेते थे। आधुनिक मनोभाव की जो कार्यधारा है अर्थात् पहले

बुद्धि के द्वारा पूर्ण रूप से समझने का प्रयास और तदुपरान्त उसमें व्रती होना, इस बालक में वैसा कुछ न था; बचपन से ही वे कार्यक्षेत्र में उतर कर देखना चाहते कि वह कार्य उनके हृदय को कितना विशाल और व्यापक बना रहा है। वे इस पद्धति में आस्थावान थे, इसीलिए परवर्तीकाल में उनके उपदेशों से इसी तरह की ध्वनि निकल पड़ी थी—"तुमलोग कुछ करोगे तो नहीं, साधु को बेमतलब तंग करने को आओगे। अरे ! साधु क्या तुम्हारे संस्कार धो सकेगा ? संस्कार तो तुम्हारा है। पर तुमलोग तो चाहोगे कि साधु की बातों से तुम्हारा संस्कार कट जाय। तुमलोगों के भीतर भाव कहाँ है ? श्रद्धापूर्वक समझे बिना समझ पक्की नहीं होती। साधन-भजन के बिना संस्कार दूर नहीं होते।"

ठाकुर जब अपने गाँव में थे, तो लालटू के वे दिन मालिक घर में किस प्रकार बीते थे, इसका थोड़ा-सा विवरण हम लाटू महाराज की अपनी भाषा में ही दे रहे हैं—"जानते हो''उनके लिए मेरा मन कैसा भारी हो जाया करता था ! बड़ा अस्थिर हो पड़ता था। रामबाबू के घर पर रह न पाता था—छिपकर दक्षिणेश्वर चला जाया करता—पर वहाँ भी आनन्द न मिलता था—उनके कमरे में न जा पाता था—सब सूना-सूना-सा लगता। बगीचे में घूमता-फिरता—गंगातट पर बैठे-बैठे रुलाई आ जाती; मेरा दुःख तुमलोग भला क्या समझो ? सच कहता हूँ, मेरी बात तुमलोग न समझ सकोगे, रामबाबू थोड़ा समझते थे। इसीलिए वे मुझे कितना समझाया-बुझाया करते। मुझे उनका एक चित्र दिया था।"

अवधूत नित्यगोपाल के मुख से सुना है—"लालटू की तब चातक पक्षी जैसी हालत थी।' इस छोटे-से वाक्य में जितना कुछ कहा गया है वही यथेष्ट होगा। हम व्याख्या के द्वारा उस वाक्य का विस्तार नहीं करना चाहते। क्रमशः □

जागो, हुआ विहान !

—आत्माराम

[स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि श्री रामकृष्णदेव के जन्म के साथ ही विश्व में सतयुग का आगमन हुआ है। प्रस्तुत कविता उसी उक्ति पर आधारित है।—सं०]

कर रहे प्रतीक्षा सदियों से
थक चुके हमारे नयन पात।
अब गुजर चुकी वह गहन रात
देखो प्राची-रवि स्वर्णगात ॥१॥

हो रही पलायित तिमिर निशा
आलोकित करती दशों दिशा।
भारत में फैला नव विहान
पंछीगण करते मधुर गान ॥२॥

बज रही प्रभाती मधु-सुर में
जननी चिर निद्रा रही त्याग।
वह देखो, सिर पर पाँव लिये
जड़ता दरिद्रता रही भाग ॥३॥

हे भरतपुत्र ! देखो माँ के
मुखमण्डल पर मुस्कान मधुर।
होंगे महान् हम भी जग में
दिन रहा नहीं वह दूर प्रचुर ॥४॥

खटखटा रहा है द्वार-द्वार
नवयुग सतयुग का महालोक
त्यागो ! छोड़ो ! फेंको ! निद्रा !
आलस, विषाद, तम, मोह, शोक ॥५॥

क्या नहीं सुन रहे तुम अब भी
चिर अभीः का महाघोष।
वेदान्त सिखाता निर्भयता
मानव का अक्षय धर्मकोष ॥६॥

अब भारत सन्तति मत सोओ
तामस त्यागो ! जड़ता त्यागो !
लो—'उठो, जागो !' का महामन्त्र
जागो ! जागो ! जागो ! जागो !! ॥७॥